3.2

पुस्तकालय

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय

विषय संख्या ______ आगत नं० 37282

लेखक ______

शीर्षक ______

दिनांक	सदस्य संख्या	दिनांक	सदस्य संख्या

दिनांक	सदस्य संख्या	दिनांक	सदस्य संख्या

पुस्तकालय

गुरूकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

पुस्तक विवरण की तिथिं नीचे अंकित है। इस तिथि सहित 30 वें दिन यह पुस्तक पुस्तकालय में वापस आ जानी चाहिए अन्यथा 50 पैसे प्रति दिन के हिसाब से विलम्ब दण्ड लगेगा।

भारतीय ग्रन्थमाला-संख्या १९

कौटिल्य के आर्थिक विचार

(भारतवर्षीय हिन्दी अर्थशास्त्र-परिषद् द्वारा सम्पादित)

लेखक
जगनलाल गुप्त
रचयिता--'संसार के सम्वत' आदि
और
भगवानदास केला
रचयिता–भारतीय शासन, भारतीय अर्थशास्त्र आदि

प्रकाशक
व्यवस्थापक, भारतीय ग्रन्थमाला, वृन्दावन

प्रथम संस्करण] सन् १९३३ ई० [मूल्य चौदह आने

प्रकाशक
श्री भगवानदास केला
व्यवस्थापक, भारतीयग्रन्थमाला
वृन्दावन

पुस्तक मिलने के पते

(१) व्यवस्थापक, भारतीय ग्रन्थमाला, वृन्दावन
(२) मैनेजर, जमुना प्रिंटिंग वर्क्स, मथुरा
(३) मैनेजर, 'माहेश्वरी' कार्यालय, नागपुर
(४) व्यवस्थापक, सरस्वती-सदन, दारागंज, प्रयाग

मुद्रक
श्रीरामशर्मा
बनिता हितैषी प्रेस
कर्नलगंज-प्रयाग



मान्यवर श्री पं० बलराम जी दुबे

समर्पण

पूज्यवर श्री पं० बलरामजी दुबे

श्रीमन् !

आपकी इस साहित्य कार्य से, कई वर्षों से सहानुभूति रही है। आप इन पंक्तियों के लेखक से, अपने सुपुत्र तथा मेरे सुहृद् और सहायक श्री पं० दयाशंकर जी की भांति स्नेह रखते हैं। इसलिये मैं यह कृति आपकी सेवा में समर्पण करने का साहस करता हूं। आशा है, प्राचीन संस्कृत ग्रन्थ के आधार पर प्रस्तुत की हुई यह रचना आपकी रुचि के अनुकूल होगी, और आप इसे स्वीकार करने के साथ ही मुझे तथा इस ग्रन्थ-माला को अपने शुभ आशीर्वाद से कृतार्थ करेंगे।

विनीत

भगवानदास केला

निवेदन

कुछ समय से हिन्दी के अर्थशास्त्र साहित्य की ओर अधिकाधिक ध्यान दिया जाने लगा है, कुछ अच्छी अच्छी पुस्तकें प्रकाशित हुई तथा हो रही हैं। प्राचीन अर्थ-साहित्य की ओर भी विद्वान् लेखकों तथा पाठकों की रुचि बढ़ती जा रही है। कौटल्य के अर्थशास्त्र का पता लगने पर, उसका टीका टिप्पणी सहित प्रकाशित होना, उसका न केवल अंगरेजी अनुवाद, वरन् दो स्थानों से हिन्दी अनुवाद प्रकाशित होना, बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र [के कुछ सूत्रों] का अंगरेजी अनुवाद के अतिरिक्त टीका टिप्पणी सहित हिन्दी अनुवाद छपना तथा इन ग्रन्थों के विषयों में देशी विदेशी विविध पत्र पत्रिकाओं में चर्चा होते रहना, इस नवीन जागृति के कुछ प्रमाण हैं। तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि सर्व साधारण पाठकों को अपने प्राचीन अर्थ-साहित्य से यथेष्ट परिचय प्राप्त करने के साधन उपलब्ध हैं।

कौटल्य के मूलग्रन्थ [अर्थशास्त्र] की शैली ऐसी गूढ़ और पांडित्य-पूर्ण है कि उसे अनुवाद रूप में भी अविकल पढ़ने में सहसा मन नहीं लगता और उसके सिद्धान्तों की स्मृति बनाये रखना तो अत्यन्त ही कठिन है। इसप्रकार यह महान कृति तथा इसका अनुवाद कुछ विद्यान्वेषियों के ही काम की वस्तु है, वह पुस्तक भंडारों की शोभा बढ़ाने वाला है। साधारण योग्यता

वाले अधिकांश पाठक उससे यथेष्ट लाभ नहीं उठा सकते। इस अभाव की यत्किंचित् पूर्ति करने के लिये यह छोटी सी पुस्तक हिन्दी संसार के सम्मुख रखने का साहस किया जाता है। कौटल्य का ग्रन्थ राजनीति, युद्ध-नीति, समाज-नीति, खनिज विद्या, पर-राष्ट्र-नीति आदि विविध विषयों के ज्ञान सम्बन्धी संग्रह का एक अथाह समुद्र है।

इस रचना के लिये मूल प्रेरणा दो वर्ष हुए, हमें मित्रवर श्री प्रोफेसर दयाशंकर जी दुबे की ओर से हुई थी, जब हम उनके पास प्रयाग में अर्थशास्त्र शब्दावली के लिये कौटल्य के ग्रन्थ में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों की सूची बना रहे थे और इस में महत्व पूर्ण सहयोग श्री जगनलालजी गुप्त, बुलन्दशहर, का है। श्री गुप्त जी को प्राचीन साहित्य के अध्ययन, मनन, और आवश्यकतानुसार संशोधन आदि का व्यसन सा हो गया है। उन्हें अधिकतर केवल आत्म-तुष्टि के लिये भिन्न भिन्न प्राचीन लेखकों के विचारों की तुलना करने का भी बड़ा शौक है। ऐसा विद्यान्वेशी अभी तक हिन्दी संसार में प्रायः गुप्त ही रहा, इसका दोष जहाँ कुछ अंश में स्वयं गुप्त जी पर मढ़ा जा सकता है, वहां यह वातावरण भी कम दोषी नहीं, जो ऐसे व्यक्ति का यथेष्ट उपयोग होने में बाधक हो रहा है। अस्तु, एक प्राचीन अर्थशास्त्री के विचारों से सर्व साधारण को परिचित कराने के उद्देश्य से लिखी हुई यह पुस्तक श्री गुप्त जी जैसे गुप्त जिज्ञासु के सहयोग का फल है।

यद्यपि इस पुस्तक में प्रकटित विचार प्राचीन काल के हैं—जो

भारतीय इतिहास में यथेष्ट अभिमान जनक हैं–हमने इस पुस्तक का ढंग अर्थात् विषय का वर्गीकरण आधुनिक पद्धति पर किया है, जिससे पाठकों को जो प्रायः नवीन पद्धति का हिन्दी या अंगरेजी का आर्थिक साहित्य अवलोकन किया करते हैं, इसे पढ़ने और हृदयंगम करने में सुविधा हो और वे प्राचीन विचारों की आधुनिक विचारों से कुछ अंश में तुलना करने का अवसर भी प्राप्त कर सकें। यद्यपि इस समय पूर्वापेक्षा परिस्थिति बहुत बदली हुई है तथापि भारतवासी इस पुस्तक से बहुत लाभ उठा सकते हैं। कुछ बातों की तो अन्य देश वासियों के लिये भी बहुत उपयोगिता है। आजकल आर्थिक उन्नति की बड़ी चर्चा है, विविध राज्यों में धन वृद्धि के नित्य नये प्रयत्न किये जा रहे है, फिर भी जन समुदाय की सुख शान्ति दुर्लभ हो रही हैं। प्राचीनकाल में चाहे यहां कुल धन राशि कम ही रही हो, यह निर्विवाद है कि आचार्य कौटल्य जैसे अर्थशास्त्रियों के उद्योग से समाज में संतोष, पारस्परिक सहानुभूति और सेवा भाव कदापि कम न था। इस दृष्टि से आधुनिक समाज सूत्रधारों को उस समय की दशा ईर्षा जनक हो सकती है।

हमारी इच्छा थी कि इस पुस्तक में आचार्य कौटिल्य के राजस्व सम्बन्धी विचार भी दें। परन्तु इस विषय की कुछ बातों पर हमें और भी विचार करने की आवश्यकता मालूम हुई। अतः वे विचार इस पुस्तक में न दिये जा सके। हम कौटिल्य की शासन पद्धति का विचार कर रहे हैं, या तो

उसमें अथवा इसी पुस्तक के अगले संस्करण में आचार्य के राजस्व सम्बन्धी विचार दिये जांयगे। हमने इस पुस्तक में उसके केवल आर्थिक विचारों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है।

मित्रवर श्री दयाशंकर जी दुबे, एम० ए०, अर्थशास्त्र शिक्षक, प्रयाग विश्वविद्यालय ने, इस पुस्तक की हस्तलिखित प्रति अवलोकन करके कई विषयों में उपयोगी परामर्श देने एवं इसकी भूमिका लिखने की कृपा की है। आप के प्रोत्साहन से इस पुस्तक के छपने का नम्बर आया अन्यथा हमारी अन्य कई अप्रकाशित पुस्तकों की भांति इसका हाल होता।

इस पुस्तक के सम्बन्ध में हमें दो बार अपने सहयोगी श्री-जगनलाल जी गुप्त मुख़्त्यार के पास बुलन्दशहर, तथा दो बार श्री दुबे जी के पास प्रयाग जाना पड़ा। इसमें, तथा पीछे इस पुस्तक को छपने के लिए प्रेस में देने में बहुत विलम्ब हुआ है। इसका कारण विशेषतया हमारी आर्थिक परिस्थिति रही है, जिसे हमारे निकटस्थ मित्र भलीभांति जानते हैं, और जिसके विषय में यहां कुछ कहना हमें अभीष्ट नहीं है। इसकी छपाई की व्यवस्था करने का भार श्री दुबे जी ने लेना स्वीकार न किया होता, तो सम्भवतः पाठकों को कुछ समय और भी प्रतीक्षा करनी पड़ती। अस्तु, इस पुस्तक का अब भी छप जाना एक प्रकार से गनीमत है। इसके लिये हमें, तथा पाठकों को श्री दुबे जी का कृतज्ञ होना चाहिये।

विनीत—भगवानदास केला

भूमिका

संस्कृत साहित्य में अर्थशास्त्र के विषय पर इस समय विशेषतया दो ही ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनमें से कौटल्य का अर्थशास्त्र मुख्य है। इस ग्रन्थ का हिन्दी और अंगरेजी में भी अनुवाद होगया है।

प्राचीन समय में अर्थशास्त्र के अन्तर्गत उन विषयों का समावेश किया जाता था जो कि आजकल राजनीति के अन्तर्गत माने जाते हैं। इसलिये कौटल्य के अर्थशास्त्र में भी राजनीति का पूरा समावेश है। इस ग्रन्थ में अर्थशास्त्र के विषयों का विवेचन भी उस क्रम से नहीं किया गया है जिस क्रम से कि वर्तमान काल में अर्थशास्त्र के ग्रन्थों में किया जाता है। इसलिये जब तक कौटल्य के अर्थशास्त्र का विशेष रूप से अध्ययन न किया जाय, तब तक कौटल्य के आर्थिक विचारों का सुगमता पूर्वक पता नहीं लगता। इस ग्रन्थ की लेखन प्रणाली भी ऐसी है कि सब से उत्तम हिन्दी अनुवाद के पढ़ने से भी विषय आसानी से समझ में नहीं आता। मैंने स्वयं श्री उदयवीर शास्त्री के हिन्दी अनुवाद को कई बार पढ़ने का प्रयत्न किया परन्तु मैं उसे एक बार भी अन्त तक न पढ़ सका, न मुझे कौटल्य के आर्थिक विचारों का पूरा ज्ञान ही हो सका। तब मैंने यह सोचा कि यदि कौटल्य के आर्थिक विचार किसी एक पुस्तक में उस क्रम से सरल भाषा में दे दिये जांय, जिस क्रम से कि वे आजकल

अर्थशास्त्र सम्बन्धी पुस्तकों में दिये रहते हैं तो हिन्दी प्रेमी जनता को उनके समझने में भी आसनी होगी, और कौटल्य के आर्थिक विचारों का जनता में प्रचार भी हो सकेगा।

जब मैंने इस विचार को, अपने मित्र श्रीयुत भगवानदास जी केला के सामने उपस्थित किया तो उन्होंने इस प्रकार की पुस्तक तैयार करना सहर्ष स्वीकार कर लिया। श्रीयुत केला जी को इस कार्य में इस विषय के विशेषज्ञ श्रीयुत जगनलाल जी गुप्त का सहयोग प्राप्त हो गया, इससे यह कार्य और भी अच्छी तरह सम्पादित हो गया।

यदि शिक्षा संस्थायें इस पुस्तक को अपने पाठ्य क्रम में स्थान देने की कृपा करेंगी तो विद्यार्थियों को भारतवर्ष के एक सुप्रसिद्ध प्राचीन अर्थशास्त्री के विचारों से परिचित होने का अवसर मिल जायगा। आशा है, हिन्दी-प्रेमी सज्जन इस रचना का उचित आदर करेंगे।

दारागंज, प्रयाग
५ नवंबर १९३३

दयाशंकर दुबे
एम० ए०, एल-एल० बी०

विषय सूची

भ्रम निवारक पत्र

कृपया इस पुस्तक में निम्न लिखित सुधार कर लीजिये

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८	२४	नहीं मालूम होती	नहीं। मालूम होता
२२	२१	सम्मति	सम्पत्ति
२८	७	अर्थ धन	अर्थ या धन
३३	१५	दुर्भाव	प्रादुर्भाव
३८	२०	आयार्य	आचार्य
३९	४	सीमात्त	सीमान्त
३९	६	उपयोगिया	उपयोगिता
४०	१	व्यापरी	व्यापारी
४५	७	कुप्पवर्ग	कुप्यवर्ग
४८	१८	पुण्यगुप्त	पुष्यगुप्त
७३	११	पानी	अर्थात्
७९	१७	वर्षक	कर्षक
८५	२१	जनमय	जलमय
८५	२१	उन	उनके
९४	२०	अन्य	अन्यत्र
९९	५	मापक	माषक
१००	१५	शुल्क	शुल्क
१०१	७	शुल्क	शुल्क

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०४	२२	वस्त्र	वस्त्र की
१०७	१८	है	है कि
१०८	४	४	५
१३०	२०	विनियम	विनिमय
१३०	२१	,,	,,
१३१	४	विनियम	विनिमय
१३६	१४	बतलाये	बतलाते
१३७	९	'के'	के
१४१	९	सभा	आधुनिक सभ्य
१४८	२२	मामूम	मालूम
१५०	२	शोभित	परिमित
१५५	७	धनादि गण	धन वितरण
१६०	१८	सोभारण्य	सोमारण्य
१६२	६	तिष्ठ	ष्ठित
१६७	१६	जंगल से	जंगल में रहने वालों या वहां व्यापार करने वालों से
१७२	१७	भत्त	भक्त

—:o:—

आवश्यक सूचना

(१) हमने इस पुस्तक का नाम 'कौटिल्य के आर्थिक विचार' रखा है, परन्तु इसमें जहां तहाँ 'कौटल्य' शब्द का ही प्रयोग किया है। बात यह है कि यद्यपि व्यवहार में प्रायः 'कौटिल्य' अधिक प्रचलित है, पर वास्तव में 'कौटल्य' अधिक शुद्ध प्रतीत होता है इस सम्बन्ध में विशेष विचार प्रस्तावना में किया गया है।

(२) 'आर्थिक विचार' में 'आर्थिक' शब्द आधुनिक साम्पत्तिक (Economic) अर्थ में लिया गया है। कौटल्य के विचार से 'आर्थिक' शब्द का अभिप्राय बहुत व्यापक है। इसका परिचय पाठकों को अन्यत्र मिलेगा।

(३) इस पुस्तक में 'आचार्य' से अभिप्राय आचार्य कौटल्य से और 'अर्थशास्त्र' से अभिप्राय कौटल्य के अर्थशास्त्र से है।

सहायक पुस्तकें

कौटलीय अर्थशास्त्र—अनु० उदय वीर शास्त्री

" —प्राणनाथ विद्यालंकार

" —शामशास्त्री

मेगस्थनीज का भारतवर्षीय वर्णन—अनु० रामचन्द्र शुक्ल

Hindu Polity—K. P. Jayaswal. M. A.

Kautilya—N. C. Bandyopadhyaya

The Early History of India—V. A. Smith

भारतीय अर्थशास्त्र, दो भाग—भगवानदास केला

मौर्य साम्राज्य का इतिहास—सत्यकेतु विद्यालंकार

वार्हस्पत्य अर्थशास्त्र—अनु० कशोमल एम० ए०

—:o:—

प्रस्तावना

(१) आचार्य कौटिल्य

इस पुस्तक में सुप्रसिद्ध प्राचीन अर्थशास्त्र-प्रणेता आचार्य कौटिल्य के आर्थिक विचारों का विवेचन है। अतः इसके पाठकों को आचार्य का परिचय प्राप्त करने की स्वभावतः इच्छा होगी, और यह परिचय प्राप्त करना उपयोगी भी होगा। इस विचार से यहां संक्षेप में आचार्य के सम्बन्ध में कुछ बातों का उल्लेख किया जाता है।

आचार्य ने अपनी योग्यता, तेजस्विता, रचना-कौशल और बुद्धि प्रखरता आदि से जर्मन फ्रांसीसी आदि पाश्चात्य विद्वानों को चकित कर दिया है, और उनकी दृष्टि में भारत का प्राचीन गौरव बढ़ाया है। उनके अर्थ-शास्त्र के उपलब्ध होजाने से इस बात का जीवित जाग्रत प्रमाण मिल गया है कि अब से सवा दो हजार वर्ष पूर्व जब कि अनेक आधुनिक राष्ट्रों का जन्म भी नहीं हुआ था, भारतवर्ष अपनी सभ्यता और संस्कृति की तथा राजनैतिक और आर्थिक उन्नति की कैसी घोषणा कर रहा था।

अवश्य ही यह खेद का विषय है कि भारत का मस्तक ऊँचा करने वाले ऐसे महान आचार्य का कोई प्रामाणिक जीवन चरित्र नहीं मिलता। उनके जीवन सम्बन्धी कई घटनायें बहुत संदिग्ध और विवादग्रस्त हैं। कितनी ही दन्तकथायें प्रचलित हैं। प्राचीन भारतीय विद्वानों की भांति स्वयं उन्होंने अपने विषय में कुछ विशेष प्रकाश नहीं डाला। पुरातन रचनाशैली के अनुसार अर्थशास्त्र में स्थान स्थान पर केवल उनके नाम का ही उल्लेख मिलता है। दो एक स्थानों में प्रयुक्त वाक्यों से इतना और मालूम हो जाता है कि आचार्य ने महाराज चन्द्र-गुप्त को राज्य दिलाने का सफल प्रयत्न किया। उन्होंने उस राज्य की सुख समृद्धि तथा विस्तार की भी यथेष्ट व्यवस्था की। इसी विचार से उन्होंने यह महान ग्रन्थ तैयार किया। इस चिरस्मरणीय विभूति की जीवन लीला के सम्बन्ध में इससे अधिक और कोई बात अर्थशास्त्र से ज्ञात नहीं होती और इसके चरित्र-लेखकों को प्रायः अन्धकार में टटो-लना पड़ता है। और तो और स्वयं आचार्य के नाम का भी विषय बहुत संदिग्ध और रहस्यमय है।

आचार्य के नाम—बहुत से लेखकों ने अपनी रचनाओं में आचार्य के कई कई नामों का उल्लेख किया है। इसप्रकार कौटिल्य (कौटल्य), विष्णुगुप्त, पक्षिल, वात्सायन, चाणक्य, ज्योतिर्विद विष्णु-गुप्त आदि नामों से जिन जिन व्यक्तियों का आशय लिया जाता है, वे सब एक ही माने जाते हैं। श्री जयदेव शर्मा लिखते हैं 'इससे हम इसी परिणाम को पहुँचे हैं कि अर्थशास्त्र के प्रणेता आचार्य ने आर्य विद्याओं पर भाष्य रचकर उनका उद्धार करके महान पुण्य राशि का लाभ किया है। यही ग्रन्थकार कामसूत्र बनाने के समय वात्सायन, न्याय भाष्य करते हुए पक्षिल स्वामी तथा अर्थशास्त्र बनाते हुए कौटिल्य

के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं' * । इस सम्बन्ध में हम अपना मत संक्षेप में आगे देते हैं ।

विष्णुगुप्त और कौटल्य—अर्थशास्त्र में जहां जहां आचार्य को अपना मत स्पष्ट रूप से देना हुआ है उसने 'कौटल्य का यह मत है' (इति कौटल्यः) कहा है । इससे कुछ पाठक यह अनुमान करते हैं कि यह ग्रन्थ स्वयं आचार्य का बनाया हुआ नहीं है, वरन् उनके शिष्यों में से किसी ने बनाया है । यह अनुमान ठीक नहीं है, कारण कि यह स्मरण रखना चाहिये कि अनेक प्राचीन लेखकों की यही शैली रही है कि अपना मत अपने नाम से ही दर्शाया जाय । हिन्दी के अनेक दोहों और कुंडलियों में उनके रचयिता का नाम आता है । फिर उस समय तो इसमें सन्देह करने का कोई स्थान ही नहीं रहता जब हम यह देखते हैं कि 'अर्थ शास्त्र' के प्रथम अधिकरण के प्रथम अध्याय के अन्तिम श्लोक में तथा द्वितीय अधिकरण के दसवें अध्याय के अन्त में भी इसके ग्रन्थकर्ता का उल्लेख 'कौटल्य' के नाम से ही हुआ है । हां ग्रन्थ की समाप्ति पर विष्णुगुप्त नाम भी दिया गया है । नीतिसार के रचयिता तथा कामन्दक नीतिसार के लेखक ने आचार्य के लिये 'विष्णुगुप्त' नाम का ही प्रयोग किया है । कौटल्य या 'कौटिल्य' नाम के विषय में कहा जाता है कि यह आचार्य का गोत्रज नाम है । वे 'कुटल' गोत्रीय थे । सम्भव है, इसीलिए आचार्य ने अपने लिए इस सामान्य नाम का अधिक व्यवहार किया है ।

---

* 'स्वार्थ' वर्ष १, पूर्णांक ६ ; श्री शर्मा जी का तो यह भी कथन है 'इस प्रकार आलोचना करने से हम इस अनुमान पर भी पहुँचते हैं कि धर्म, अर्थ, काम पर इस आचार्य ने क्रम से न्यायभाष्य, अर्थशास्त्र, और कामशास्त्र का निर्म्माण किया है तो नितरां मोक्षशास्त्र, वेदान्त पर भी इसने कोई भाष्य या कृति अवश्य बनायी होगी ।'

यह बता सकना कठिन है कि इस गोत्र वाले इस समय भारतवर्ष के किस भाग में पाये जाते हैं।

अस्तु, धीरे धीरे आचार्य के 'विष्णुगुप्त' नाम का प्रचार घट गया और 'कौटल्य' या 'कौटिल्य' ही व्यवहार में आने लगा। अर्थशास्त्रज्ञों को छोड़कर अन्य इतिहासज्ञ, पुराणकार, टीकाकार, नाटककार, आदि ग्रन्थ लेखक भी, जो आचार्य से बहुत काल पीछे नहीं हुए, इसी नाम का प्रयोग करने लगे। 'मुद्राराक्षस' के रचयिता कविवर विशाखदत्त जी जैसे इने गिने विशेषज्ञों के सिवाय और सब लेखक आचार्य के विष्णुगुप्त नाम को भूल गये। कविवर विशाखदत्त जी ने विष्णुगुप्त के पिता का नाम शिवगुप्त लिखा है।

चाणक्य--आचार्य ने अपने आपको, अथवा उसके निकटवर्ती लेखकों ने उन्हें चाणक्य नहीं कहा; यद्यपि प्राचीन तथा अर्वाचीन साहित्य में यह नाम भी कौटल्य का ही सिद्ध करने वाले अनेक उद्धरण मिलते हैं। ऐसा अनुमान होता है कि जब कुछ विद्वानों की भूल से 'विष्णुगुप्त' या कौटल्य को 'कौटिल्य' लिखा और पढ़ा जाने लगा तो इसी शब्द के लगभग समानार्थी नाम 'चाणक्य' नाम की सृष्टि हुई। फिर तो अनुमान करने वालों की सूझ-बूझ ने इस दिशा में और भी प्रगति की। कुछ लोगों ने सोचा कि चाणक्य का अर्थ है, चणक की संतान, अतः जब आचार्य का नाम चाणक्य है, तो उसके पिता का नाम चणक होगा। क्रमशः आचार्य के और भी कई नाम प्रचलित होगये, यथा मल्लनाग, अंगुल, द्रामिल, वरणक आदि।

आचार्य के इन विविधनामों की यथार्थता का निर्णय करना एक स्वतंत्र वाद-विवाद का विषय है, हम विस्तार भय से यहां उसका विचार नहीं करते। अर्थशास्त्र तथा अन्य आधारों पर हमें कौटल्य नाम के विषय में कोई सन्देह नहीं है।

कौटल्य का समय—कौटल्य के समय के विषय में केवल यही कहा जासकता है कि वे सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रधान-मंत्री और उनके पूर्वज नन्द का समकालीन थे। इस बात के प्रमाण इसी ग्रन्थ में हैं। विष्णु पुराण आदि कई ग्रन्थकारों ने कौटिलीय अर्थ शास्त्र के उद्धरण दिये हैं, उस से भी यही सिद्ध होता है। कुछ पाश्चात्य विद्वानों का अनुमान है कि यह ग्रन्थ ईसा की तीसरी या चौथी शताब्दी का है और इसकी रचना किसी एक व्यक्ति द्वारा न होकर कई व्यक्तियों द्वारा भिन्न भिन्न समय में हुई। इसका कारण सम्भवतः यह है कि वे अर्थशास्त्र में वर्णित राजनीति, युद्ध नीति, अर्थ नीति, धातु विज्ञान आदि के विवेचन को देखकर चकित हैं, उन्हें यह विश्वास नहीं होता कि भारतवर्ष में ये विद्याएं ऐसे प्राचीन काल में इतनी उन्नत हो गयी हों जब कि संसार के अन्य देश अधिकांश में अन्धकारमय जीवन व्यतीत कर रहे थे। परन्तु अन्य विद्वानों ने इसका यथेष्ट खंडन किया है और यह सिद्ध किया है कि वास्तव में इस ग्रन्थ की रचना ईसा के पूर्व चौथी शताब्दी में हुई थी, चन्द्रगुप्त का राज्य काल ईस्वी पूर्व संवत ३२२ से ईस्वी पूर्व संवत २९८ तक स्वीकार किया जाता है।

कौटल्य और मेगस्थनीज़—कौटल्य और मेगस्थनीज़ प्रायः समकालीन माने जाते हैं, और यह मत इतना प्रचलित होगया है कि अब चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध में विचार करने वाला हर एक लेखक उक्त दोनों के ही ग्रन्थों के आधार पर अपना वक्तव्य उपस्थित करने लग गया है। तथापि यह विषय ऐसा नहीं है कि इसमें किसी प्रकार का सन्देह ही न हो। हमें यहां इसका विवेचन न कर केवल इसका दिग्दर्शन कराना ही अभीष्ट है। जैसा कि श्री चन्द्रगुप्त जी विद्यालंकार ने लिखा है * यूनानी

* माधुरी वर्ष ८, खंड २, संख्या १०

साहित्य में भारतवर्ष के सम्बन्ध में पालीवोथ्रा और सेंड्राकोटस आदि कुछ नाम तथा इनके वर्णन उपलब्ध हैं। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक भारतीय पुरातत्व के विद्वान बड़े प्रयत्न से इन नामों की संगति भारतीय इतिहास में लगाने की चेष्टा करते रहे। अन्त में सन् १७६३ ई० में रायल एशियाटिक सोसाइटी के प्रधान सर विलयम जोन्स ने यह प्रतिपादन किया कि 'पालीवोथ्रा' भारतवर्ष का 'पाटली पुत्र' नगर है, और 'सेंड्राकोटस' चन्द्रगुप्त का अपभ्रंश है, जिसने नन्द वंश का नाश करके मौर्य वंश की स्थापना की। यह बात भारतीय तिथि क्रम की आधारशिला के रूप में स्वीकार की गयी। इससे यह सिद्ध होगया कि महाराज चन्द्रगुप्त मौर्य ३२१ ई० पूर्व में मगध के सिंहासन पर आरूढ़ हुए। मेगस्थनीज़ उनके दरवार में यूनानी राजदूत था। उसने अपने भारत-निवास के संस्मरण विस्तार-पूर्वक लिखे थे, जिनमें से अब ६६ खंड अपूर्ण रूप से प्राप्त होते हैं।

आचार्य कौटल्य मौर्य साम्राज्य के स्थापन में मुख्य सहायक तथा सम्राट चन्द्रगुप्त के प्रधान अमात्य थे। अतः यह निर्विवाद है कि उन्होंने आदर्श के तौर से जिस शासन विधि का वर्णन अपने अर्थशास्त्र में किया है, वह पद्धति कम से कम उनके समय में अवश्य प्रचलित रही होगी।

अनेक विद्वानों को यह देखकर अत्यधिक आश्चर्य होता है कि मेगस्थनीज़ के भारत-वर्णन में कहीं भी आचार्य कौटल्य का नाम तक उपलब्ध नहीं होता *। तथा कतिपय एक ही सम्बन्ध के वर्णनों में कौटल्य

---

* मेगस्थनीज़ को कौटल्य का साक्षात् परिचय न होना आश्चर्य जनक या असम्भव नहीं। कभी कभी राज सत्ता के प्रधान सूत्रधार स्वयं शासक के रूप में रंगभूमि पर नहीं आते, प्रत्युत अपनी निश्चित नीति का, परामर्श आदि के द्वारा, उपयोग करा लेते हैं। शायद ऐसे ही कारण

और मेगस्थनीज़ के लेख में बड़ा भेद है। इससे निम्न लिखित निष्कर्ष निकल सकते हैं:—

(१) अर्थशास्त्र का लेखक और मेगस्थनीज समकालीन नहीं थे, उनके समय में पर्याप्त अन्तर रहा है।

या (२) मेगस्थनीज ने जिस सेंड्राकोटस का उल्लेख तथा वर्णन किया है, वह चन्द्रगुप्त मौर्य न था, जिसका कि कौटल्य प्रधान मंत्री रहा, वरन् समुद्रगुप्त आदि कोई अन्य राजा होगा।

या (३) यदि मेगस्थनीज और कौटल्य समकालीन ही थे तो अर्थशास्त्र का लेखक कौटल्य से भिन्न कोई अन्य व्यक्ति (या व्यक्ति समूह) होगा जिसने कौटिल्य के नाम से इस ग्रन्थ की रचना की, और जिसका समय उक्त दोनों व्यक्तियों के समय से भिन्न था।

जिस आधार पर ये निष्कर्ष निकाले जाते हैं, वह हमें कुछ दृढ़ नहीं मालूम होते। प्रथम तो मेगस्थनीज़ का पूरा ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है; दूसरे जिन बातों के वर्णन में कुछ पाठकों को भेद मालूम होता है, उनमें अन्य विद्वान पूर्वापर ग्रन्थों की साक्षियों के विवेचन से संगति मिलाने में समर्थ होजाते हैं, उन्हें कोई विशेष तात्विक या मौलिक भेद ज्ञात नहीं होता। अस्तु, विविध उपलब्ध प्रमाणों से हमें इसमें सन्देह करने का कोई कारण प्रतीत नहीं होता कि 'अर्थशास्त्र' का रचयिता कौटल्य (कौटल्य या विष्णुगुप्त) उपनाम चाणक्य ही था। हां, मेगस्थनीज उसका समकालीन था या नहीं, और मेगस्थनीज का 'सेंड्राकोटस' वास्तव में चन्द्रगुप्त मौर्य था या समुद्रगुप्त आदि कोई अन्य राजा, इस विषय में पुरातत्ववेत्ताओं द्वारा अनुसंधान किये जाने की गुंजायश हो सकती है।

से मेगस्थनीज कौटल्य जैसे महान व्यक्ति को न जान सका हो, जो पर्दे के पीछे से अमात्य के रूप में राज्य का नियंत्रण कर रहे थे।

कौटल्य का जन्म और शिक्षा—बौद्ध ग्रन्थों तथा कुछ अन्य प्रमाणों के आधार पर अनुमान किया जाता है कि उसकी जन्म भूमि तक्षशिला थी, और उसने संसार-प्रसिद्ध नालन्द के विश्वविद्यालय में शिक्षा पायी थी। कविवर विशाखदत्त जी के लिखने से मालूम होता है कि नगर (पाटली पुत्र) में आने से पूर्व कौटल्य नीति, वैद्यक, ज्योतिष, रसायन आदि लोकोपयोगी विविध विद्यायें पढ़ चुका था। वह दृढ़ता साहस और धैर्य आदि सद्गुणों की भी समुचित शिक्षा पा चुका था।

मगध में आगमन—उन दिनों मगध के महाराज महानन्द या महा पद्मानन्द का प्रताप सूर्य मध्यान्ह में था। उसकी राजधानी पाटली पुत्र या कुसुम पुर के वैभव की सर्वत्र धूम थी। सम्भवतः अपनी विद्या और बुद्धि का प्रकाश दिखाने और राजाश्रय पाने के लिये कौटल्य वहां आया। वहां नन्द के मंत्री शकटार या शकटाल से उसकी भेंट हुई, उसने उसकी राजनैतिक योग्यता, रसायन, वैद्यक आदि लोकोपयोगी ज्ञान को शीघ्र परख लिया। महानन्द से अपमानित होने के कारण वह उससे बदला लेने का इच्छुक था, इसलिये उसने प्रखर-बुद्धि कौटल्य से मित्रता करना ठीक समझा। कौटल्य भी राजमंत्री जैसे उच्चाधिकारी का मित्र बनकर बहुत प्रसन्न हुआ, और वह उसका हितैषी सखा होगया।

शकटार ने शीघ्र ही यह विचार किया कि यदि कौटल्य की दरबार तक पहुँच होगयी, और इसने महाराज की कृपा दृष्टि प्राप्त करली, तो उस दशा में मेरा महाराज से बदला लेने का उद्येश्य पूरा न हो सकेगा इसलिये उसने उसे किसी प्रसंग * पर महाराज से कड़ी फटकार दिला

* स्व० भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी ने इस प्रसंग का जो वर्णन, मुद्राराक्षस नाटक के अनुवाद में किया है, उसे पाठक अच्छी तरह जानते होंगे। अतः यहां देने की आवश्यकता नहीं मालूम होती है कि भोजन-

दी। तेजस्वी कौटल्य धन-वैभवोनमत्त महानन्द द्वारा किये गये अपमान से बहुत क्रुद्ध हुआ, इस पर शकटार ने उसे और भी भड़काया। फलतः कौटल्य ने महानन्द के नाश करने की प्रसिद्ध प्रतिज्ञा की।

चन्द्रगुप्त से मेल और नन्दों का नाश—उस समय भ्रातृ-द्वेष तथा राजनैतिक कारणों से चन्द्रगुप्त को पितृ-राज्य मगध से भागना पड़ा। वह युवराज पद का अधिकारी होने के अतिरिक्त अत्यन्त साहसी चतुर और योग्य था। उसका कौटल्य से मेल होजाना स्वाभाविक था। ये दोनों तक्ष-शिला की ओर गये। उन दिनों सिकन्दर अपनी सेना सहित वहाँ था। उससे इन की भेंट हुई। पर उसकी सेना के भयभीत होजाने के कारण वह इन्हें महानन्द के विरुद्ध कुछ सहायता न दे सका। अन्ततः पश्चिमोत्तर प्रान्तों के कई पहाड़ी राजाओं से मेल करके ये कुसुमपुर पर चढ़े। अन्त में नन्द मारे गये* और कुसुमपुर पर कौटल्य और चन्द्रगुप्त का राज्य होगया।

शान्ति स्थापना—राज्याधिकार प्राप्त करलेने के पीछे भी कौटल्य को विजित राज्य में शान्ति स्थापित करने में बड़ी कठिनाई पड़ी होगी, और वह महानन्द के मंत्री राक्षस को चन्द्रगुप्त का अमात्य बनाने में कई वर्ष के प्रयत्न करने के पश्चात् सफल हुआ होगा। अर्थशास्त्र के प्रकरण

निमंत्रण में अपमान का वह वर्णन जैसा नाटकोचित है, वैसा प्रामाणिक तथा इतिहास योग्य नहीं है।

* महानन्द और उसके पुत्रों के मारे जाने के विषय में कई प्रकार की अद्भुत और आश्चर्यजनक गाथायें प्रचलित हैं। परन्तु वास्तविक बात यह होगी कि ये लोग युद्ध में उन उपायों द्वारा मारे गये जिनका उल्लेख कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में प्रकरण १६४ से १७६ तक किया है।

१७६ में ऐसे उपायों का सविस्तर वर्णन किया गया है, और मुद्राराक्षस का अन्तिम भाग पढ़ने से मालूम होता है कि कौटल्य को प्रायः वे सब ही उपाय वर्तने पड़े थे।

सिल्यूकस की पराजय—राक्षस को चन्द्रगुप्त का अमात्य बनाने के पश्चात् कौटल्य ने यूनानियों को भारतवर्ष से निकालने की ओर ध्यान दिया। सिल्यूकस ने महानन्द और चन्द्रगुप्त के युद्ध का समाचार सुनने पर अपना अधिकार पंजाब तक बढ़ा लिया था। अब चन्द्रगुप्त की विजय से वह न केवल पंजाब से ही हटाया गया, वरन् अफगानिस्थान, बिलोचिस्थान, और उससे भी आगे का कुछ भाग उससे छीनकर मौर्य साम्राज्य में मिला लिया गया। सिल्यूकस ने अपनी कन्या हेलना का विवाह चन्द्रगुप्त से किया और अपना दूत प्रतिभू (जामिन) की तरह चन्द्रगुप्त के दरबार में भेजा।

कौटल्य का रहन सहन—जान पड़ता है कि कौटल्य का शेष जीवन शान्त और गम्भीर मंत्री या महामंत्री का जीवन था। यद्यपि वे बड़े विद्वान और प्रभावशाली थे, स्वयं चन्द्रगुप्त को सम्राट बनानेवाले थे किन्तु उनके जीवन में राजकीय शान शौकत का अभाव था। मुद्राराक्षस से मालूम होता है कि वे अपने आश्रम में एक सामान्य गृहस्थ या वानप्रस्थ की भांति रहते थे। अनुमानतः उनका आश्रम पाटलीपुत्र से बाहर लगभग एक कोस पूर्वोत्तर की ओर रहा होगा। अस्तु, सम्भव है कि कौटल्य के रहन सहन की अत्यन्त सादगी के कारण ही वे उन यूनानियों की निगाह में कुछ न जचे हों, जो राजकीय वैभव वाले सिकन्दर आदि के दरबार से चन्द्रगुप्त के यहां आते थे। उन्हें इस बात की कल्पना सहज ही नहीं हो सकती होगी कि भारतवर्ष में एक धनहीन कोपीनधारी व्यक्ति ऐसे राज्य को बनाने वाला और ऐसे राज्य कार्य को संचालन करने वाला सूत्रधार हो सकता है।

कौटल्य की योग्यता—कौटल्य ने अर्थशास्त्र की रचना करके अपनी अपूर्व राजनैतिक प्रतिभा तथा असाधारण युद्ध शासन और संगठन सम्बन्धी ज्ञान का अद्भुत परिचय दिया है। उनके ग्रन्थ के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि वे नगर-निर्म्माण, राज-पुत्रों की शिक्षा, गुप्तचर विभाग संगठन, सैन्य संचालन, खनिज शास्त्र, व्यापार कला, द्रव्यौषधि-विज्ञान, विष-परीक्षा, विष चिकित्सा, कृषि, पशु-पालन, कानून और वैद्यक आदि विद्याओं के निष्णात पंडित थे।

उस समय की दृष्टि से, कौटल्य का भौगोलिक ज्ञान भंडार भी यथेष्ट था। उन्होंने अर्थशास्त्र में भारतवर्ष तथा विदेशों के जिन स्थानों नगरों, नदियों, खानों, खाड़ी और झील आदि का उल्लेख किया है, वे प्रायः सही हैं। कई तत्कालीन यूनानी लेखकों की भांति उसने कल्पना के आधार पर ही नहीं लिखमारा है। उसने हीरा, मोती, मूंगा, चन्दन, चमड़ा, रेशमी वस्त्र, नमक आदि पदार्थ उत्पन्न होने या बनाये जाने के कई स्थानों के नाम गिनाये हैं।

कौटल्य ने अपने ग्रन्थ में भिन्न भिन्न, कम से कम तीस ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख किया है, इनमें से कुछ सर्व श्रुत हैं, पर कितनी ही ऐसी हैं, जिनका ज्ञान पुराणों और इतिहासों को देखे बिना नहीं हो सकता। उनके अर्थशास्त्र के अनुवादकों को चाहिये कि ऐसे प्रसंगों के केवल उल्लेख से ही संतोष न कर, पाठकों की जानकारी के लिये उन पर विशेष प्रकाश डाला करें।

कौटल्य का जीवनोद्देश्य—कौटल्य के आर्थिक विचार इस पुस्तक में, तथा राजनैतिक विचार हमारी दूसरी पुस्तक में दिये गये हैं, इनसे उनकी इन विषयों सम्बंधी नीति भलीभांति विदित होजायगी। यहां जीवनोद्देश्य के सम्बंध में विचार करना है। भारतवर्ष में बहुत से

आदमी धर्म और मोक्ष को प्रधानता देनेवाले रहे हैं, ऐहलौकिक बातों की नितान्त अवहेलना की है; इसके विपरीत कुछ व्यक्ति समय समय पर ऐसे भी हुये हैं जिन्होंने अर्थ और काम को मुख्य स्थान दिया है, खाओ पीओ और मौज करो, भोग विलासों का भरसक उपभोग करो यही उनका दृष्टिकोण रहा है। आचार्य कौटल्य इन दोनों चरम सीमाओं से बचते हैं, वे एक प्रकार से समझौतावादी हैं। वे सर्व साधारण की स्वाभाविक प्रवृत्ति और रुचि को भलीभांति समझते हैं, इसलिये वे उन्हें अर्थ और काम की प्राप्ति से वंचित रहने का आदेश नहीं करते, परन्तु वे यह भी नही चाहते कि मनुष्य नितान्त स्वेच्छाचारी और स्वार्थरत जीवन व्यतीत करें, इसलिये वे उनके अर्थ और काम पर धर्म का अंकुश रखते हैं। वे आदेश करते हैं कि सांसारिक जीवन में धर्म का यथेष्ट विचार रखा जाय।

उपसंहार—जिसप्रकार अर्थशास्त्र अनेक ज्ञातव्य और मनन योग्य बातों से परिपूर्ण है, उसीप्रकार आचार्य का जीवन कई बहुमूल्य शिक्षाओं से भरा हुआ है। एक साधारण गृहस्थ कुल में जन्म लेकर उसने अपने समय की एक अत्यन्त महान और बलाढ्य राजशक्ति का सामना किया और अपने चातुर्य, दृढता तथा साहस के बल से नन्द का नाश करके देश को बहुत कुछ नियमित और नियंत्रित शासक प्रदान किया, प्रजा के हित चिन्तना में लगे रहकर सामाजिक जीवन के विविध क्षेत्रों के लिये उपयोगी नियम निर्म्माण किये, तथा उन नियमों का समुचित व्यवहार कराकर सर्वत्र शान्ति सुख और समृद्धि में अद्भुत योग दिया।

इससे भी अधिक महत्व की बात यह है कि आचार्य का सब कार्य अपने व्यक्तिगत सुख, विलासिता या ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये नहीं था। जब वे अपनी इच्छानुसार राज्य संगठन के कार्य कर चुके तो उन्होंने त्याग और शान्ति का मार्ग अवलम्बन किया। भारतीय संस्कृति के अनु-

सार उन्होंने वर्णाश्रम के जो आदर्श स्थिर किये हैं, उन्हें उन्होंने स्वयं अपने जीवन में भी चरितार्थ करके यह दिखला दिया कि वे उन लोगों में से नहीं थे जिनका पांडित्य केवल दूसरों को उपदेश देने तक ही परिमित रहता है। वे औरों के शिक्षक थे तो अपनी वासनाओं और ऐहिक कामनाओं पर यथेष्ट नियंत्रण रखने में भी समर्थ थे। इसप्रकार वे अचार्य पद को वास्तव में चरितार्थ करने वाले थे; ऐसे व्यक्ति जिस देश और जाति में यथेष्ट संख्या में हों, उसका उद्धार होने में क्या सन्देह है, वह कदापि चिरकाल तक कष्ट पीड़ित नहीं रह सकती। अचार्य कौटल्य ऐसे ही महान व्यक्ति थे, वे धन्य हैं।

—:०:—

(२) कौटल्य का अर्थशास्त्र

आचार्य कौटल्य के अर्थशास्त्र का कुछ परिचय प्राप्त करने से पूर्व, भारतवर्ष के प्राचीन साहित्य, और विशेषतया आर्थिक साहित्य के सम्बन्ध में कुछ बातें जान लेना उपयोगी होगा।

भारतवर्ष का प्राचीन साहित्य—बहुत से पाश्चात्य विद्वानों की तथा कितने ही भारतीय लेखकों की भी यह धारणा है कि प्राचीन काल में भारतवर्ष में आध्यात्मिक तथा पारलौकिक उन्नति की ओर ही ध्यान दिया जाता था, भारत के निवासी सांसारिक या भौतिक बातों की ओर से प्रायः उदासीन रहते थे। किन्तु तनिक विचार करने से यह विचार निर्मूल सिद्ध हो जायगा। प्राचीन भारतीयों की दृष्टि एकांगी नहीं थी। अनेक विद्वानों और ऋषियों ने इस संसार में, मानव जीवन के तीन उद्देश्य बतलाये हैं, धर्म, अर्थ, और काम। इन तीनों अर्थात् "त्रिवर्ग" की सिद्धि में ही जीवन की सफलता मानी जाती थी।

यद्यपि इस समय यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि धर्म अर्थ, और काम में से प्रत्येक के सम्बन्ध में भारतवर्ष में प्राचीन काल में कितना कितना साहित्य तैयार था, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यहां विद्या का इतना विकास अवश्य होचुका था कि विद्वानों को जीवन के तीनों उद्देश्यों के विषय में स्वतंत्र रचना करने की आवश्यकता हुई और उन्होंने प्रत्येक विषय पर स्वतंत्र साहित्य तैयार किया। यह दूसरी बात है कि उस में से कुछ इस समय प्रकाश में नहीं है।

प्राचीन आर्थिक साहित्य—यह बात आर्थिक साहित्य के विषय में तो पूर्णतया चरितार्थ होती है। तथापि भारतवर्ष में यह साहित्य बहुत

प्राचीन समय से रहा है, इसमें सन्देह नहीं। यहां तक कि इसका उल्लेख वेदों में भी मिलता है। इस साहित्य के प्रथम आचार्य बृहस्पति थे।

कौटल्य ने अपने अर्थशास्त्र में स्थान स्थान पर अपने पूर्ववर्ती आचार्यों का मत दिखाया है, और आवश्यकतानुसार उसकी आलोचना की है। ऐसे आचार्यों में कुछ ये हैं:—विशालाक्ष (इन्द्र), पाराशर, पिशुन (नारद), बाहुदन्ति, कौणपदन्त (भीष्म पितामह), वात व्याधि (अक्रूर या उद्धव), भारद्वाज (द्रोणाचार्य या कणक जो दुर्योधन का मन्त्री था), खरपट्ट। इनके अतिरिक्त कौटल्य ने मनु, बृहस्पति, उशनस और अम्भीय, इन चार आर्थिक सम्प्रदायों के आचार्यों का भी उल्लेख किया है। इनके अधिकांश ग्रन्थ तो इस समय अनुपलब्ध ही हैं। इन ग्रन्थों के न मिलने का एक कारण यह भी होसकता है कि आचार्य कौटल्य ने अपने ग्रन्थ की उनके सम्यग् अध्ययन के अनन्तर रचना की है। उनके आवश्यक अँशों का संग्रह तथा आलोचना कौटल्य के अर्थशास्त्र में आजाने से उन ग्रन्थों की इतनी आवश्यकता नहीं रही और इसलिये उनकी यथेष्ट रक्षा भी नहीं की गयी।

कौटल्य के अर्थशास्त्र के अतिरिक्त, कुछ रचना बार्हस्पत्य सूत्रों के नाम से सर्व साधारण के सामने है। महाभारत और अग्निपुराण तथा विविधस्मृतियों के कुछ भाग भी अर्थशास्त्र सम्बन्धी हैं।

कौटल्य का ग्रन्थ—यद्यपि कौटल्य और उनके अर्थशास्त्र का अन्य विविध ग्रन्थों में उल्लेख आने से विद्वानों को यह तो ज्ञात था कि कौटल्य का कोई ग्रन्थ है, परन्तु अबसे पच्चीस वर्ष पूर्व तक वह प्रकाश में नहीं आया था। सबसे प्रथम सन् १९०९ ई० में मैसूर राज्य के ग्रन्थालय के अध्यक्ष श्रीशाम शास्त्री जी ने इसे प्रकाशित कराया। उन्होंने इसका अंगरेजी में अनुवाद करा दिया। इसप्रकार मूल और उसका अंगरेजी अनुवाद प्रकाशित होजाने पर, भारतीय तथा योरोपीय विद्वानों

को यह अमूल्य सामग्री उपलब्ध होसकी, और फिर इसके विषय में उनके विचार और आलोचनायें प्रकाशित होने लगीं। कई स्थानों से इसके संस्कृत और अंगरेजी के संस्करण प्रकाशित हुये। हिन्दी भाषा में इसका पहला अनुवाद १९२३ ई० में प्रकाशित हुआ, यह श्री० प्राणनाथ जी विद्यालंकार द्वारा किया हुआ था। श्री० उदयवीर शास्त्री जी का अनुवाद सन् १९२५ ई० में प्रकाशित हुआ।

साधारण परिचय--आचार्य कौटल्य के अर्थशास्त्र में गद्य और पद्य दोनों प्रकार की रचना है। गद्य भाग में संक्षिप्त सूत्र और उनका भाष्य है। अपने रचे हुए सूत्रों का भाष्य आचार्य ने स्वयं इसलिए कर दिया है कि कोई टीकाकार उसके अभिप्राय से अनभिज्ञ रहकर अनर्थ न कर डाले। किन्तु, भाष्य कर देने पर भी, आधुनिक पाठकों की दृष्टि से आचार्य का मनोरथ सफल हुआ नहीं कहा जा सकता। हम देखते हैं कि एक अंगरेजी का और दो हिन्दी के अनुवाद हो चुकने पर भी किसी किसी विषय में आचार्य का भाव ठीक ठीक नहीं समझा जाता। इसके अतिरिक्त यह भी कठिनाई उपस्थित हो रही है कि मूल भाग को भाष्य से अलग करना असम्भव प्रतीत होता है।

गद्य भाग के अतिरिक्त, मूल ग्रन्थ में ३७९ श्लोक या पद्य हैं। इनमें से अधिकतर 'अनुष्टुप' छंद के हैं, और ये प्रायः प्रत्येक अध्याय के अन्त में उपसंहार रूप से लिखे गये हैं। इस ग्रन्थ के श्लोकों में से कुछ उसी रूप में अथवा नाम मात्र के भेद से, अन्य प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में भी मिलते हैं।

रचना शैली और भाषा—प्राचीन शैली के अनुसार आचार्य ने अपने ग्रन्थ के आरम्भ में ही क्रम बद्ध अध्यायों और प्रकरणों के विषय बोधक नाम या शीर्षक (हैडिंग) बतलाते हुए कहा है कि इस ग्रन्थ में १५ अधिकरण, १५० अध्याय, १८० प्रकरण और ६००० श्लोक हैं

जो ग्रन्थ में दिए हुए सब अक्षरों के योग से बनाए जा सकते हैं *। आचार्य ने अपने ग्रन्थ के अन्तिम अधिकरण का नाम 'औपनिषदिक' रखा है। अन्य प्राचीन विद्वानों ने भी अपने ग्रन्थों में कुछ अत्यन्त रहस्यमयी और गुप्त बातें बतलाने के लिए ऐसा प्रकरण रखा है। प्राचीन विद्वान अपने ग्रन्थों में स्वतंत्र रचना वहां ही करते थे, जहां उन्हें अपने से पहले ग्रन्थ-कर्त्ताओं के वाक्यों या श्लोकों की अपेक्षा संक्षिप्त, सरल या स्पष्ट रचना करने की आवश्यकता प्रतीत होती थी। आचार्य कौटल्य ने इसी शैली का अवलम्बन किया है। उन्होंने ग्रन्थ के अन्तिम प्रकरण में तंत्र युक्तियों का उल्लेख किया है, जो प्रायः सब, उदाहरणों को छोड़कर, सुश्रुत के अन्तिम अध्याय में हैं। किन्तु आचार्य ने उनका जो क्रम रखा है, वह अधिक उपयुक्त है। साथ ही आचार्य के दिये हुए उदाहरण अधिक उपयोगी हैं, क्योंकि वे उदाहरण स्वयं आचार्य के ग्रन्थ से हैं, उनसे आचार्य की रचना की प्रामाणिकता सिद्ध होती है।

अर्थशास्त्र की भाषा प्राचीन ढंग की (Classical) है। इसमें लम्बे लम्बे समास नहीं हैं, और शब्दों का व्यवहार बहुधा यौगिक भावों को लिये हुए है। ग्रन्थ में कुछ कम प्रचलित शब्द भी पाये जाते हैं, पर उनकी संख्या अधिक नहीं है। उनमें से बहुत से मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य, शुक्र नीतिसार, कामन्दकीय नीति आदि राजनीति ग्रन्थों में भी व्यवहृत हुए हैं; फिर जो नये शब्द हैं, उन्हें आचार्य ने स्वयं परिभाषा के रूप में समझाया है। किन्तु कहीं कहीं पाठ-भेद आदि के कारण उसकी परिभाषा के समझने में भी अड़चन पड़ती है।

---

*एक श्लोक में ३२ अक्षर होते हैं। यदि इस अर्थशास्त्र के कुल अक्षरों को अनुष्टुप छन्दों में बांध दिया जाय तो छः हजार श्लोक बनते हैं।

कौटल्य सरल और व्यावहारिक भाषा प्रयोग करने वाले लेखक हैं। उन्होंने स्थान स्थान पर लोकोक्तियां या कहावतें दी हैं। इससे उनकी भाषा सरल एवं चमत्कार-पूर्ण होगयी है। उनकी लेखन शैली बहुत तर्क युक्त तथा प्रामाणिक है। जब वे किसी विषय में अपने किसी पूर्ववर्ती आचार्य के मत की आलोचना या खंडन करते हैं, या दो वस्तुओं के गुण दोष का तुलना करते हैं तो उनकी रचना देखते ही बनती है। स्थान स्थान पर वे पाठक के हृदय में यह बात बैठा देते हैं कि भाषा तथा विषय दोनों पर उनका पूर्ण अधिकार है। आचार्य एक शब्द को प्रायः एक ही अर्थ में प्रयुक्त करने के पक्ष में जान पड़ते हैं। उनकी भाषा में पाणिनीय व्याकरण का उलंघन देखने में नहीं आता।

ग्रन्थ का उद्देश्य—कौटल्य ने अपना ग्रन्थ इस उद्देश्य से लिखा था कि इस एक ही ग्रन्थ के स्वाध्याय से राजा को अपने कर्तव्य और अधिकारों तथा सामाजिक, नैतिक और आर्थिक विषयों का ज्ञान हो जाय, और वह ऐसे मंत्री, नौकर और जासूस आदि रख सके, एवं ऐसे नियमों को प्रचलित कर सके जिनसे उसे अपने राज्य की उन्नति करने में सुविधा हो। उन्होंने अर्थशास्त्र के दूसरे अधिकरण के दसवें अध्याय के अन्त में कहा है, "कौटल्य ने सब शास्त्रों को अच्छी तरह जानकर, और उनके प्रयोगों को भलीभांति समझ कर राजा के लिये इस शासन विधि का उपदेश किया है।" पन्द्रहवें अधिकरण के अन्त में वे लिखते हैं, "जिसने उत्तेजित होकर शास्त्र, शस्त्र, और नन्दराज के हाथ में गयी पृथ्वी का जल्दी उद्धार किया है, उसने इस शास्त्र का निर्म्माण किया है।"

ग्रन्थ की विशेषता—अर्थशास्त्र एक सामाजिक विद्या है, इसका आधार, मनुष्य की समाज में रहने की प्रवृत्ति, होती है और इसके सिद्धान्तों का प्रयोग किसी देश में आदमियों के लिये उस देश की तत्का-

लीन परिस्थिति के अनुसार पृथक पृथक विधि से होता है। आचार्य कौटल्य का ग्रन्थ मौर्य-काल की राज्य सम्बन्धी आर्थिक एवं अन्य समस्याओं को दृष्टि में रखकर, उन्हें सुलझाने के लिये लिखा गया है। इसमें उन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है जिनका राष्ट्रीय सरकार द्वारा उपयोग किया जाना बहुत लाभकारी समझा गया। अपनी वर्तमान अवस्था में, और विशेष प्रकार के आर्थिक सिद्धान्तों की शिक्षा पाने के कारण यह सम्भव है कि हमें आचार्य कौटल्य की कुछ बातें बड़ी अनोखी और अमान्य भी हों। परन्तु हमें इन पर विचार करते हुए यह स्मरण रखना चाहिये कि उसका 'अर्थशास्त्र' तत्कालीन भारत का राष्ट्रीय अर्थशास्त्र है। इसकी कितनी ही बातें इस समय भी यथेष्ट महत्व-पूर्ण हैं, विशेषतया इसलिये कि यहां राष्ट्रीय सरकार स्थापित करने का आयोजन हो रहा है।

कौटल्य की सफलता—किसी व्यक्ति के विचारों या सिद्धान्तों की सफलता, उन्हें कार्य में परिणत करने से होनेवाले परिणामों से जानी जाती है, अतः कौटल्य के आर्थिक सिद्धान्तों की सफलता की जांच करने के लिये हमें देखना चाहिये कि उनका आचार्य के बाद आने-वाले समय में क्या प्रभाव हुआ। क्या आचार्य देश को स्वावलम्बी बना सके, क्या वे समाज को विदेशी श्रम और पूंजी के प्रभाव से सुरक्षित रख सके और क्या वे समाज में शूद्रों, कारीगरों, मज़दूरों आदि की प्रतिष्ठा बढ़ाने में सहायक हो सके? स्मरण रहे कि समाज पर किस प्रयोग का क्या प्रभाव पड़ा, इसे भलीभांति जानने के लिये कभी कभी वर्षों ही नहीं, पीढ़ियों तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है। अतः कौटल्य के आर्थिक विचारों के प्रयोग का परिणाम समझने के लिये हमें केवल उस के ही समय की परिस्थिति का विचार न कर उसके कुछ समय पश्चात्—अशोक के समय की भी परिस्थिति सोचनी होगी।

अशोक के समय में यहां जनता की सुख सामग्री कितनी बढ़ी चढ़ी थी, लोगों की सामाजिक रीति, व्यवहार, आमोद, दान, धर्म, शान-शौकत कितनी अधिक थी, इस विषय में हमारे विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं। इतिहास के पाठक भलीभांति जानते हैं कि उस समय न केवल लोगों को अपने जीवन निर्वाह की चिन्ता न थी, वरन् उन्हें अनेक प्रकार अपव्यय करने की आदत थी। इससे सहज ही यह अनुमान हो सकता है कि उस समय भारतवर्ष आर्थिक दृष्टि से बहुत उन्नत था।

यद्यपि यह कहा जा सकता है कि तत्कालीन उत्तम आर्थिक परिस्थिति के उत्पादक कारण और भी रहे होंगे तथापि इसमें सन्देह नहीं है कि उसमें कौटल्य के सिद्धान्तों के प्रयोग का भी बड़ा भाग रहा है, अस्तु इससे कौटल्य की सफलता स्पष्ट है।

—:०:—

कौटल्य के आर्थिक विचार

पहला परिच्छेद

अर्थशास्त्र का विषय

इस पुस्तक में हमें यह विवेचन करना है कि भिन्न भिन्न आर्थिक विषयों में आचार्य कौटल्य के क्या विचार थे। प्रथम यह बता देना आवश्यक है कि आजकल अर्थशास्त्र के अन्तर्गत किन किन विषयों का समावेश किया जाता है और आचार्य की दृष्टि में इस शास्त्र का क्षेत्र क्या था।

अर्थशास्त्र का आधुनिक क्षेत्र—आजकल अर्थशास्त्र की परिभाषा संक्षेप में इस तरह की जाती है कि यह वह विद्या है जो समाज में रहने वाले मनुष्यों के अर्थ अर्थात धन सम्बन्धी

प्रयत्नों और सिद्धान्तों का विवेचन करे। इस परिभाषा में प्रयुक्त धन सम्बन्धी प्रयत्नों में धन की उत्पत्ति, विनिमय, उपभोग और वितरण आदि सम्मिलित हैं, जिनकी व्याख्या आगे प्रसंगानुसार की जायगी।

कुछ समय से आधुनिक अर्थशास्त्रियों की प्रवृत्ति अर्थशास्त्र के क्षेत्र को क्रमशः बढ़ाने की ओर रही है। कुछ अर्थशास्त्री व्यापार संगठन, औद्योगिक व्यवस्था, यातायात के साधन, नगर निर्माण आदि जनता के कुशल-क्षेम तथा सुख-समृद्धि के प्रश्नों को अर्थशास्त्र के अन्तर्गत ही मानते हैं। यहां तक आर्थिक बातों का पहले से अनुमान करना भी कुछ लेखकों के मतानुसार अर्थशास्त्र का ही अंग माना जाना चाहिये। यदि यही क्रम जारी रहा तो सम्भव है कि भविष्य में अर्थशास्त्र का क्षेत्र बहुत व्यापक होजाय इसमें व्यवहारिक अंश बहुत बढ़ जाय, परन्तु अभी तो यह प्राचीन अर्थशास्त्रियों द्वारा निर्धारित क्षेत्र से बहुत कम है। यह बात आगे की पंक्तियों से विदित होजायगी।

अर्थशास्त्र का प्राचीन क्षेत्र—आचार्य कौटल्य ने विद्याओं के जो भाग किये हैं, उनमें से वार्ता और दंड प्राचीन काल में भारतीय अर्थशास्त्र के मुख्य अंग थे, अन्य दो विद्यायें आनविक्षकी और त्रयी हैं। वार्ता का अभिप्राय है कृषि, पशु पालन और व्यापार। शासन नीति का प्रतिपालन करनेवाला शास्त्र दंड-नीति कहलाता है। वार्ता को आजकल सम्पति शास्त्र या अर्थशास्त्र (Economics) कह सकते हैं, परन्तु वास्तव

में उसका क्षेत्र कहीं अधिक मालूम होता है। आजकल के विचार से उसके कई स्वतंत्र भाग होसकते हैं। कृषिविद्या और पशुपालन के विषय का आधुनिक अर्थशास्त्र में यथेष्ट विवेचन नहीं हो पाता; इनके तथा इनकी भिन्न भिन्न शाखाओं के साहित्य का आजकल पृथक् अस्तित्व है। परन्तु प्राचीन काल में ये सब मिलाकर भी अर्थशास्त्र का एक अंग मात्र होते थे।

वार्ता के अतिरिक्त उस समय दंड भी अर्थशास्त्र का ही एक मुख्य अंग माना जाता था। आजकल की भाषा में इसे राजनीति शास्त्र या राज्यविज्ञान कहा जा सकता है, परन्तु वास्तव में दंड के अन्तर्गत उस समय संधि विग्रह आदि ऐसे विषयों का भी समावेश हो जाता था जिन्हें आजकल स्वतंत्र स्थान मिला हुआ है।

कौटल्य के ग्रन्थ का विषय—आचार्य कौटल्य के अर्थ शास्त्र का क्षेत्र समझने के लिये उनका प्रथम वाक्य पाठकों का पथ-प्रदर्शक कहा जा सकता है। आचार्य ने अपने ग्रन्थ का श्रीगणेश इस प्रकार किया है, "पृथ्वी के प्राप्त करने और प्राप्त पृथ्वी की रक्षा करने के लिए जितने अर्थशास्त्र प्राचीन आचार्यों ने लिखे, प्रायः उन सबको ही संग्रहीत करके, यह एक अर्थशास्त्र बनाया गया है।" इस वाक्य से यह प्रत्यक्ष ही है कि कौटल्य से पहले भारतवर्ष में अर्थशास्त्र के अनेक आचार्य हो गये हैं; और अर्थशास्त्र भारतवर्ष में एक अत्यन्त प्राचीन विद्या है।

अपने ग्रन्थ के अन्तिम अधिकरण में, अर्थ की परिभाषा में यह कहकर कि मनुष्यों से युक्त भूमि का भी नाम अर्थ है, कौटल्य लिखते हैं 'इस भूमि के प्राप्त करने और रक्षा करने के उपायों का निरूपण करने वाला शास्त्र अर्थशास्त्र कहलाता है।' उक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र का क्षेत्र 'पृथ्वी को प्राप्त करने और उसकी रक्षा करने' के उपायों का विचार करना है। यह भूमि जैसा कि उपर्युक्त उद्धरण से विदित होता है, मनुष्यों से युक्त है, अथवा जैसा कि आचार्य के विवेचन से ज्ञात होता है मनुष्यों से युक्त की जानेवाली अथवा उनके लिये उपयोगी बनायी जाने वाली हो। कौटलीय अर्थशास्त्र के देखने से ज्ञात होता है कि आचार्य प्रत्येक ऐसी बात का विचार करते हैं जिससे समाज की सुख शन्ति बढ़े, उसकी शारीरिक और मानसिक उन्नति हो। उन्होंने अपने अर्थशास्त्र में ब्रह्मचर्य की दीक्षा से लेकर देशों के विजय करने तक अनेक बातें दी हैं। शहरों का बसाना, खुफिया पुलिस का इन्तजाम, फौज की रचना, अदालतों की स्थापना, फौजदारी और दीवानी के कानून, विवाह सम्बन्धी नियम, दाय भाग, दत्तक, शत्रुओं पर चढ़ाई, किलेबन्दी, नये किले बनवाना, संधि और उनके भेद और परिवर्तन, ऐसी औषधियों का उपयोग जिनके द्वारा शत्रुओं को युद्ध में भयंकर हानि पहुँचे, अनेक प्रकार की व्यूह रचना आदि विविध बातों का आचार्य अपने इस ग्रन्थ में विचार करते हैं।

अस्तु, कौटल्य के ग्रन्थ की कितनी ही बातें अर्थशास्त्र के

आधुनिक काल में निर्दिष्ट किये हुए क्षेत्र से बाहर जाती हैं, यद्यपि वे हैं अपने अपने विषय की यथेष्ट महत्व पूर्ण। बात यह है कि भारतवर्ष के प्राचीन विद्वान अर्थशास्त्र का क्षेत्र बहुत व्यापक रखते थे। कौटल्य ने भी उनका अनुकरण करते हुए अपने ग्रन्थ का विषय बहुत विस्तृत रखा है।

अर्थशास्त्र-विषय-विभाग—आधुनिक अर्थशास्त्रियों के और कौटल्य के मतानुसार अर्थशास्त्र के क्षेत्र में कितना अन्तर है, इसका स्पष्टीकरण दोनों के विषय-विभाग से सहज ही हो जायगा। संक्षेप में आजकल अर्थशास्त्र का विषय-विभाग इसप्रकार किया जाता है:—

१—धन की उत्पत्ति।

२—धन का विनिमय और व्यापार।

३—धन का उपभोग, और

४—धन का वितरण।

अब इसकी तुलना में कौटल्य के ग्रन्थ की विषय सूची देखिये, जो संक्षिप्त में आगे दी जाती है:—

(१) विनयाधिकारिक या शास्त्र-ज्ञान, विद्या समुद्देश, अमात्य, मंत्री, पुरोहित, गुप्तचर, राजकुमार, राज भवन आदि के सम्बन्ध में विचार।

(२) अध्यक्ष-प्रचार; राज्य के विविध विभागों के अध्यक्षों

अर्थात् निरीक्षकों या प्रधान अधिकारियों के सम्बन्ध में विचार।

(३) धर्मस्थीय—न्यायाधीश सम्बन्धी विशेषतया दीवानी विषयक विचार।

(४) कंटकशोधन—प्रजा के रक्षा सम्बन्धी, विशेषतया फौजदारी विषयक विचार।

(५) योग वृत्त—राजा और उसके अमात्यों की रक्षा सम्बन्धी विचार।

(६) मंडल योनि—प्रकृतियों (स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दंड, और मित्र) के गुण तथा शान्ति और उद्योग सम्बन्धी विचार।

(७) षाड्गुण्य—संधि, विग्रह, यान (शत्रु पर चढ़ाई करना), आसन (उपेक्षा), संश्रय (बलवान से मित्रता करना) और द्वैधी भाव (संधि और विग्रह दोनों का उपयोग) सम्बन्धी विचार।

(८) व्यसनाधिकारिक—दैवी और मानुषी विपत्तियों सम्बन्धी विचार।

(९) अभिपास्यत कर्म—शक्ति, देश, काल के बलाबल और विविध विपत्तियों से बचने की योजना आदि सम्बन्धी विचार।

(१०) सांग्रामिक—युद्ध सम्बन्धी विचार।

(११) संघ वृत्त—भेद डालने वाले उपायों के प्रयोग तथा

उपांशु दंड (छिपकर किसी का वध करादेना) आदि सम्बन्धी विचार।

(१२) आवलीपस—प्रबल अभियोक्ता के प्रति दुर्बल राजा के कर्त्तव्य सम्बन्धी विचार।

(१३) दुर्गलम्भोपाय—शत्रु के दुर्गों की प्राप्ति सम्बन्धी विचार।

(१४) औपनिषदिक—परघात प्रयोग, औषध और मंत्रों के रहस्य सम्बन्धी विचार।

(१५) तंत्रयुक्ति—अर्थ के निर्णय के लिये उपयोगी युक्तियों सम्बन्धी विचार।

स्थानाभाव तथा पाठकों की सुविधा को ध्यान में रखते हुए हम इस पुस्तक में आचार्य के केवल उन्हीं विचारों का विवेचन करेंगे जो आजकल अर्थशास्त्र का विषय माने जाते हैं; अन्य बातों का हम इस पुस्तक में विचार न करेंगे।

—:o:—

दूसरा परिच्छेद

अर्थ या धन

इस पुस्तक के विषय को समझने के लिये यह जान लेना आवश्यक है कि अर्थशास्त्र की भाषा में 'अर्थ' या 'धन' शब्द से क्या अभिप्राय: है, और इसके क्या क्या भेद हैं। पहले आधुनिक दृष्टि से विचार करते हैं, फिर कौटल्य का मत देंगे।

अर्थ धन का आधुनिक अभिप्राय—प्राचीन काल में प्राय: आदमी धन से रुपये पैसे आदि सिक्कों या सोना चांदी आदि धातुओं का ही आशय लेते थे। अब भी बहुत से आदमी धन का अर्थ रुपया पैसा ही समझते हैं, परन्तु वास्तव में सोचा जाय तो ये ही चीजें धन नहीं हैं, इनसे प्रत्यक्ष रूप से हमारी भूख प्यास, सर्दी गर्मी आदि नहीं मिटती। मनुष्यों को अपने जीवन निर्वाह या भौतिक सुख के लिये मूल आवश्यकता भोजन वस्त्र, तथा मकान आदि की होती है। इन चीजों को या तो वह स्वयं बनाता है, या दूसरों की बनी हुई लेता है। जिस दशा में वह दूसरों से लेकर अपना काम चलाना चाहता है, उसे उनके बदले में अपनी बनायी हुई कुछ चीज देनी होती है; या (आजकल) उसकी कीमत चुकानी होती है। बहुत सी चीजें

ऐसी होती हैं, जिनके उत्पन्न करने या तैयार करने में मनुष्यों को एक दूसरे की, या एक दूसरों के साधनों की सहायता की आवश्यकता होती है, इस दशा में, उन्हें उनका प्रतिफल देना होता है।

अस्तु, अर्थशास्त्र में धन के अन्तर्गत मनुष्यों द्वारा उत्पन्न या संगृहीत वे सब पदार्थ माने जाते हैं, जिनसे उनकी किसी प्रकार की शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति हो सकती है, और जिन्हें देकर बदले में अन्य उपयोगी वस्तुएं मिल सकती हैं। इस प्रकार अन्न, कोयला, लोहा, लकड़ी आदि व्यवहारोपयोगी वस्तुएं धन हैं। आजकल धन का कुछ और भी व्यापक अभिप्राय लिया जाने लगा है। यद्यपि अभीतक सर्वसाधारण धन के अन्तर्गत भौतिक या स्थूल पदार्थों का ही समावेश करते हैं, तथापि बहुत से अर्थशास्त्रज्ञ कुछ सूक्ष्म वस्तुओं को भी धन मानने लगे हैं, उदाहरणार्थ-वे मनुष्यों द्वारा की जाने वाली सेवाओं को भी धन मानते हैं। सम्भव है भविष्य में मानवी गुणों या योग्यताओं को भी धन माने जाने के पक्ष में लोकमत तैयार होजाय।

कौटल्य के अनुसार धन का क्षेत्र—धन सम्बन्धी विचारों का विकास होने में भिन्न भिन्न देशों में बहुत समय लगा। अधिकांश देशों में सत्तरहवीं और अठारहवीं शताब्दी तक सोना चाँदी आदि धातुओं को ही धन मानते रहे। परन्तु कौटल्य के ग्रन्थ से मालूम होता है कि भारतवर्ष के विद्वानों ने

बहुत समय पूर्व से धन का व्यापक अर्थ समझ लिया था। आचार्य ने अर्थशास्त्र में उन सब स्थूल द्रव्यों को विचारणीय माना है और अनेक का विचार किया है जिनका धन के रूप में उपयोग किया जा सकता है, या जिनसे धन की उत्पत्ति और वृद्धि में सहायता मिलती है। वह 'विष्टी' (मनुष्य के श्रम या सेवा) को भी धन मानता है। इसके अतिरिक्त वह अर्थशास्त्र के पंदरहवे अधिकरण में लिखता है कि "मनुष्य के व्यवहार या जीवका को 'अर्थ' कहते हैं। मनुष्यों से युक्त भूमि का भी नाम 'अर्थ' है।" वह राज्य की प्रकृतियों (State Constituents) की विवेचना में राजा और राज कर्मचारियों के गुणों और योग्यताओं को भी सम्पत्ति कहता है। जन पद सम्पत्ति, दंड सम्पत्ति और जंगमज सम्पत्ति का भी उसने सविस्तर विचार किया है।

जनपद सम्पत्ति—जनपद सम्पत्ति के विषय में आचार्य ने बतलाया है कि जहां स्वदेशी और विदेशी मनुष्यों के लिये यथेष्ट धान्य पैदा हो, आपत्तियों में पहाड़, वन आदि के द्वारा देशवासियों की रक्षा हो सके, थोड़े ही परिश्रम से अन्न पैदा होजाय, अपने शत्रु से द्वेष रखने वाले मनुष्यों की आबादी हो, आस-पास कमजोर राजा हो, कीचड़, कंकर, ऊसर, ऊंची नीची जमीन, चोर, बदमाश, स्वभावज अपराधी, हिंसक जानवर और घने जंगल न हों, नदी तालाब आदि से युक्त खेती हो, खान, लकड़ियां और हाथी यथेष्ट हों, गाय भैंस आदि पर्याप्त हों,

जल और थल में तरह तरह की विक्री की चीजें पैदा हों, निम्न वर्णों के, प्रेम करने वाले तथा शुद्ध हृदयवालों की आबादी हो, वही जनपद सम्पत्ति कहलाता है।

दंड सम्पति--इसी प्रकार दंड सम्पत्ति में क्रमागत और स्थिर सेवा-भाव, आज्ञापालन, राजा की ओर से भरण-पोषण के विषय में संतुष्ट रहना। यात्रा में भी अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने की योग्यता होना, युद्धचातुर्य, सहिष्णुता, हानि-लाभ का विचार न कर राजभक्त होना आदि गुण और योग्यतायें गिनायी गयी हैं।

जंगमज सम्पत्ति—चमड़ा, बाल, ऊन हड्डी आदि ऐसी वस्तुएं भी जो जंगम सृष्टि (पशु पत्ती आदि) से उत्पन्न होती हैं, आचार्य की निगाह से नहीं बची हैं। हाथीदांत जैसी चीजें भारतवर्ष से बाहर जाकर अच्छे मूल्य पर विकती थीं, अतः इनका भी अर्थशास्त्र में सम्यगविचार किया गया है।

साराँश--निदान, कौटल्य की दृष्टि में सम्पत्ति, धन या अर्थ शब्द अत्यन्त व्यापक है। उनके मत से, जिस गुण का भी उपयोग किया जा सकता है, जो शक्ति काम में आ सकती है, जिस परिस्थिति से लाभ उठाया जा सकता है, वह सब सम्पत्ति है। बड़ी विशद और वैज्ञानिक परिभाषा है।

कौटल्य ने अपने ग्रन्थ में धन के इस व्यापक क्षेत्र को बराबर लक्ष्य में रखा है। इसीलिये उन्होंने आर्थिक लाभ की

दृष्टि से उपर्युक्त विविध प्रकार की सम्पत्ति के उपयोग और वृद्धि सम्बन्धी अनेक महत्व पूर्ण विचार उपस्थित किये हैं। हम उनका आगे प्रसंगानुसार उल्लेख करेंगे।

अस्तु, आचार्य कौटल्य के अनुसार अर्थ या धन का क्षेत्र इतना विस्तृत है कि आधुनिक अर्थशास्त्रियों में से जो धन का व्यापक अर्थ लेते हैं, वे भी आचार्य के अर्थ की सीमा तक नहीं पहुंचते। हां, जैसा कि पहले कहा गया है आजकल अर्थशास्त्र के विद्वानों की वर्तमान प्रवृत्ति इसओर अवश्य है कि वह धन का क्षेत्र अधिकाधिक विस्तृत करें। इससे यह आशा की जा सकती है कि वे भविष्य में आचार्य के विचार तक पहुँच जावेंगे।

तीसरा परिच्छेद

धनोत्पत्ति के साधन

अब आचार्य कौटल्य के धनोत्पत्ति सम्बन्धी विचारों पर प्रकाश डाला जाता है। परंतु पहले यह जान लेना आवश्यक है कि धनोत्पत्ति का अभिप्राय क्या है, और उसके साधन क्या क्या होते हैं।

धनोत्पत्ति, उपयोगिता वृद्धि—प्रायः मनुष्य अपनी विविध आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये धन पैदा करते रहते हैं, परन्तु बहुत कम यह सोचते हैं कि धनोत्पत्ति का ठीक अर्थ क्या है। क्या मनुष्य कोई बिल्कुल नयी चीज़ पैदा कर सकता है? वास्तव में हम जो कुछ करते या कर सकते हैं, वह कोई सर्वथा नयी वस्तु उत्पन्न करना नहीं होता, वरन् किसी उत्पन्न वस्तु को पहले की अपेक्षा अधिक उपयोगी बनाना होता है। इसप्रकार धनोत्पत्ति का आशय केवल उपयोगिता वृद्धि है। *

---

* संस्कृत में 'जन्म' शब्द का अर्थ दुर्भाव है, अर्थात् जो वस्तु पीछे थी, वह सामने आयी; 'उत्पत्ति' शब्द ऊपर आना है, अर्थात् जो वस्तु नीचे दबी या छिपी हुई थी, वह ऊपर आगयी; सृष्टि शब्द का अर्थ बाहर छोड़ना है, अर्थात् जिस वस्तु को भीतर छिपा कर रखा था, उसे

उपयोगिता कई तरह बढ़ायी जाती है। अनेक दशाओं में वस्तु का रूप रंग या आकार आदि का परिवर्तन होता है। ऐसे परिवर्तनों में खेती करना, खानों से खनिज पदार्थ निकालना, तालाब आदि से मछली पकड़ना, शिकार करना आदि शामिल है। सूत कातना, कपड़ा बुनना, कल कारखानों में अन्य विविध पदार्थ तैयार करना भी ऐसे ही परिवर्तन हैं। व्यापार करने में स्थान परिवर्तन होता है, इससे वस्तुएं ऐसी जगह पहुँचाई जाती हैं, जहां उनकी मांग अधिक होती है, अर्थात् दूसरे शब्दों में जहां वे अधिक उपयोगी होती हैं। कुछ वस्तुएं विशेष समय के लिये संग्रह करके रखी जाती हैं, इससे उस समय उनकी उपयोगिता बढ़ जाती है। निदान, उपयोगिता वृद्धि के विविध प्रकार हैं, और किसी भी प्रकार से क्यों न हो

बाहर निकाला। इन तीन शब्दों के अतिरिक्त संस्कृत भाषा में और कोई शब्द है नहीं जिससे कि यह भ्रमात्मक भाव उत्पन्न हो सकता हो कि जो वस्तु पहले नहीं थी, उसका नया अस्तित्व हुआ।

इसीप्रकार संस्कृत में 'नाश' शब्द का अर्थ 'अदर्शन' है, अर्थात् जो वस्तु सामने थी, वह छिप गयी। इससे स्पष्ट है कि जिस वस्तु का अस्तित्व है, उसका स्थानान्तर, रूपान्तर और नामान्तर हो सकता है इसी तत्व को भगवान श्रीकृष्ण नेः—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः

इस आधे श्लोक से प्रकट किया है।

—कल्याण

किसी वस्तु को उपयोगिता बढ़ाने को आधुनिक अर्थशास्त्र में धनोत्पादन का कार्य कहा जाता है।

कौटल्य ने अपने अर्थशास्त्र में धनोत्पत्ति की इसप्रकार कोई परिभाषा नहीं की है, तथापि उसने उसके विविध रूपों का विचार किया है।

धनोत्पत्ति के साधन--धनोत्पत्ति के क्या क्या साधन हैं, यह बात एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायगी। कल्पना करो कि अन्न उत्पन्न करना है। खेती के लिये भूमि चाहिये, किसान को हल चलाने और पानी देने आदि में श्रम करना होगा, साथ ही उसे बीज, हल बैल आदि ऐसी चीजों की भी आवश्यकता होगी, जिन्हें उसकी पूंजी कहा जाता है। इन सब साधनों की उचित व्यवस्था करने से, कुछ समय में अन्न की उत्पत्ति होगी।

इसीप्रकार कारखाने में तैयार होने वाले माल के उदाहरण पर विचार किया जा सकता है। कारखाने के लिए भूमि की आवश्यकता होती है। उसमें काम करने वाले भिन्न भिन्न योग्यता के आदमी अपने श्रम से विविध काम करते हैं। कारखाने में मशीन, इमारत और कोयला आदि की आवश्यकता होती है, जिन्हें हम पूँजी कहते हैं। फिर कारखाने का संचालन करने के लिये भूमि श्रम और पूंजी जुटाने के लिये, कार्य में होने वाले लाभ हानि आदि का विचार करने के लिए एक विशेष प्रकार की योग्यता की आवश्यकता होती है, इसे व्यवस्था (Organisation) कहते हैं।

पहिले धनोत्पत्ति के साधनों में व्यवस्था की पृथक् गणना नहीं की जाती थी। परन्तु आजकल, कारखानों में बहुत से एकत्रित आदमियों द्वारा, बड़ी बड़ी पूँजी से, बड़ी मात्रा में धनोत्पादन का कार्य किया जाता है। इससे प्रबन्ध या निरीक्षण की विशेष आवश्यकता होती है। पुनः कार्य बड़ा होने से उसके संचालन की जिम्मेदारी या जोखम अथवा साहस भी बहुत करना होता है। इस प्रकार व्यवस्था का महत्व बहुत बढ़ गया है। व्यवस्था में साहस (Enterprise) और प्रबन्ध (Managment) दोनों सम्मिलित समझे जाते हैं।

इस प्रकार आधुनिक अर्थशास्त्रियों के मतानुसार धनोत्पत्ति के लिये चार साधनों की आवश्यकता होती है, (१) भूमि, (२) श्रम, (३) पूँजी, और (४) व्यवस्था। अगले परिच्छेदों में हम क्रमशः इस विषय पर प्रकाश डालेंगे कि आचार्य कौटल्य के, इन साधनों के सम्बन्ध में क्या विचार हैं।

—:o:—

चौथा परिच्छेद

भूमि

मनुष्य के काम में आने वाले सब पदार्थ प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से, भूमि से ही उत्पन्न होते हैं। धनोत्पत्ति में, पृथ्वी के ऊपर के तल के अतिरिक्त उसके भीतरी भाग (भू गर्भ), देश के जल वायु, वर्षा, नदी नाले, पर्वत, समुद्र आदि का भी उपयोग होता है। अतः इन सब को भूमि के अन्तर्गत ही माना जाता है।

नयी भूमि बसाना--आचार्य कौटल्य ने जन पद निवेश (नयी बस्ती बसाने) के प्रकरण में विस्तृत और समथल भूमि को उपयोगी कहा है, और सीमा स्थिर करने के लिये नदी, पहाड़, जंगल विशेष, तथा सेमल छोकरा (शमी या सफेद कीकर) और बड़ पीपल आदि दूध वाले पेड़ों की आवश्यकता बतलायी है। ये चीज़ें स्थायी अथवा देर में नष्ट होने वाली हैं, और नष्ट होने पर भी, पीछे किसी न किसी रूप में इनकी स्मृति या चिन्ह बने रहते हैं। आचार्य ने लिखा है कि झरनों से, या दूर तक के वर्षा के पानी को इकट्ठा करके राज्य द्वारा नहर और तालाब बनाये जांय, और जो लोग स्वयं तालाब आदि बनावें उन्हें भूमि, मार्ग, तथा तृणादि अन्य आवश्यक वस्तुओं की सहायता

दी जाय। इसी प्रकार, उन्होंने लोगों के निजी तौर पर आरम्भ किये हुए अपूर्ण कार्यों को भी राज्य की ओर से पूरा करना आवश्यक ठहराया है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि उनकी दृष्टि में इन बातों की कितनी उपयोगिता थी। आचार्य तीर्थ (घाट) चौराहे, ठहरने के स्थान तथा बागों की भी आवश्यकता सूचित करते हैं।

आचार्य को नदी के तट, उनके संगम, कमलों वाले जलाशय, एवं जल की सुविधा वाली भूमि बहुत पसन्द थी। वे नगरों के बसाने के सम्बन्ध में स्पष्ट सूचना करते हैं कि उनमें चारो ओर छोटी छोटी नहरों के द्वारा जल प्रवाह अवश्य रहना चाहिये। वास्तव में जल के अभाव में, भूमि की उपयोगिता बहुत कम रह जाती है। कौटल्य का मत है कि नगर के चारों ओर खायी इतनी गहरी खोदी जाय कि उसमें जल निकल आये। जल की शुद्धि के लिये वह जलचर जीवों को पालने, कमल आदि उत्पन्न करने और जल निकलने के मार्ग बनाने पर जोर देते हैं। उन्होंने खेती के लिये जलाशय बनाने के नियम बतलाये हैं।

नयी भूमि की उपयोगिता वृद्धि--कौटल्य का मत है, अपनी इच्छानुसार भूमि सम्बन्धी गुण बहुत कुछ उत्पन्न किये जा सकते हैं, अर्थात् उसकी उपयोगिता बढ़ायी जा सकती है। इसप्रकार, नयी भूमि की उपयोगिता बढ़ाने के लिये आयार्य ने उसकी जोर शोर से तथा जहरीले घातक जीवों से रक्षा करने का, तथा स्थान स्थान पर चरागाहों और गोचर भूमि की

व्यवस्था करने का विधान किया है। उनका मत है कि वागुरिक (सांप आदि पकड़ने वाले) शवर और पुलिन्द आदि भील जातियों एवं चांडाल और अन्य जंगलों में घूमने फिरने वाले आदमियों को किले में आश्रय देकर उनसे सीमान्त की रक्षा का कार्य लिया जाय।

उनकी दृष्टि में नदी ताल और नहरों की उपयोगिया केवल सिंचाई की ही दृष्टि से नहीं है, वे उन्हें मछलियों और शाकों की पैदावार बढ़ाने के लिये भी आवश्यक मानते हैं। साथ ही उन्होंने नयी आबादी के लिये तैयार की हुई भूमि की उपयोगिता बढ़ाने के वास्ते स्थल मार्ग, जल मार्ग, और मंडियों की भी योजना की है। वे इस प्रसंग में खान खोदने, कारखाने चलाने जंगलों से लकड़ी और हाथी लाने तथा पशुपालन की उत्तेजना देने का परामर्श दिया है। उनकी राय है कि नयी भूमि अधिक तर राज्य कर्मचारियों को ही दी जाय। सम्भवतः उनका यह विचार रहा हो कि राज्य के दबाव के कारण वे ऐसे स्थानों को, उन आपत्तियों से बचने के लिये न छोड़ भागेंगे, जो वहां अवश्यम्भावी होती है।

आचार्य ने ऐसे और भी नियम दिये हैं जिन से जंगलों को काटकर नयी भूमि को उपयोगी बनाने में प्रोत्साहन मिले।

कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

१—किसानों को जो जमीन दी जाय वह छीनी न जाय। जो खेती न करे, उनसे लेकर दूसरे खेती करने वालों को दे दी जाय।

२—गांव की सेवा-वृति करने वाले बढई लुहार या व्यापरी लोगों को जमीन खेती के लिये दे दी जाय।

३—जो खेती के लिये ज़मीन लेकर खेती न करें, उनसे हरजाना लिया जाय।

४—खेती करनेवाले को बीज पशु तथा नकदी आदि के द्वारा सरकारी सहायता दी जाय।

५—नयी भूमि के काम में लगे हुए लोगों के स्वास्थ और बल बढ़ाने के लिये औषधि आदि की व्यवस्था की जाय।

६—नयी आबादी में बसे हुए बालक, बीमार, वृद्ध, अनाथ, आपद्ग्रस्त तथा नाबालिगों की रक्षा आदि का प्रबन्ध किया जाय।

७—नयी ज़मीन बसाने के लिये या तैयार करने के कार्य में लगे हुए लोगों की शक्ति का ह्रास न होने देने के लिये उन में से किसी युवक या युवती को सन्यासी न होने दिया जाय। यही नहीं, कोई सन्यासी वहां रहे भी नहीं।

८—नयी आबादी के आदमियों में भोग विलास की सामग्री और खेल तमाशों की प्रवृत्ति न होने दी जाय। तथा इन कामों को करने वाले पेशेवरों को वहां न पहुँचने दिया जाय।

९—प्रायः सम्पूर्ण आबादी का आधा भाग या इस से भी अधिक शूद्र काश्तकारों का रखा जाय।

न जोती जाने वाली भूमि का उपायोग—जो भूमि जोती नहीं जाती या जासकती उसका भी आचार्य ने धन के

रूप में उपयोग करना बतलाया है। उन्होंने लिखा है कि ऐसी भूमि में पशुओं के लिये सार्वजनिक चरागाहों की व्यवस्था की जाय। शिक्षा संस्थायें तथा वानप्रस्थियों के आश्रम बनाये जांय, और ऐसे स्थानों को वृक्ष आदि से रक्षित और हिरण जैसे पशुओं से शोभित किया जाय। ये स्थान खूब लम्बे चौड़े होने चाहिये। इनमें लम्बी चौड़ी और गहरी खाइयों से सुरक्षित, स्वादु फल फूलों से भरे हुए और कटीले वृक्षों से रहित चिड़ियाघर बनाये जांय। इनमें सीधे चौपाये, जैसे शेर चीते और हिंसक जन्तु जिनके नख और दन्त तोड़ दिये गये हों, हाथी हथिनी और अन्य अनेक तरह के पशु रखे जांय और बड़े बडे तालाब बनवा कर उनमें जल-पशु रखे जांय। शिकार खेलने के स्थान के लिये सीमित भूमि छोड़ दी जाय। हाथियों के पालने का प्रबन्ध किया जाय और ऐसे स्थानों की सीमा पहाड़ झील नदी नाले आदि के रूप में बनायी जाय।

इन स्थानों की रक्षा के लिये कौटल्य ने विशेष प्रकार के दुर्गों की योजना की हैं जिन्हें आज कल प्राकृतिक सीमायें कहा जाता है, आचार्य उन्हें 'दैवकृत' कहते हैं। जलदुर्ग, पर्वत दुर्ग, वन दुर्ग और धान्वन दुर्ग [रेगिस्थान के किले] इसतरह चार प्रकार से वे रक्षा के उपाय बतलाते हैं। वे इस बात को खूब समझते थे कि आर्थिक दृष्टि से जल दुर्ग और पर्वत-दुर्ग अधिक लाभदायक हैं। युद्ध की दृष्टि से वन-दुर्ग तथा धान्वन दुर्ग महत्व पूर्ण हैं।

भूमि की उपयोगिता का तुलनात्मक विचार-

कौटल्य ने इस विषय की अच्छी विवेचना की है कि किस भूमि की उपयोगिता दूसरी से कम या अधिक होती है। उस को समझाने में केवल वृष्टि पर निर्भर रहने वाली भूमि की अपेक्षा नदी या तालाब आदि स्थायी जलाशयों के पास की भूमि इस लिये अच्छी है कि वहां सदैव निश्चित रूप से फलादि की उत्पत्ति हो सकती है। ऊबर-खाबड़ तथा कंकरीली पथरीली भूमि की अपेक्षा वह भूमि अच्छी है जो समथल हो और ऋतु के अनुकूल थोड़ी वर्षा होने पर भी उपजाऊ हो, चाहे यह भूमि विस्तार में थोड़ी ही हो। जलाशय वाली भूमि में भी वही भूमि अच्छी है जहां अन्न आदि पैदा हों क्योंकि यदि उस में कुछ पैदावार नहीं होती तो उसकी भी उपयोगिता प्रायः बहुत कम रह जाती है। यदि यह निर्णय करना हो कि अधिक विस्तार वाली भूमि अच्छी है या कम विस्तार वाली, तो कौटल्य अधिक विस्तार वाली भूमि को ही पसन्द करते हैं, क्योंकि उस में कहीं जलाशय होंगे ही या बनाये जा सकते हैं। उस पर स्थायी रहन सहन के स्थान या कारखाने आदि बना कर भी उसका उपयोग किया जासकता है। आचार्य ने बतलाया है कि इनके अतिरिक्त कुछ और बातें भी भूमि की उपयोगिता घटाती बढ़ाती हैं जैसे उस के आस पास कैसे लोगों की आबादी है, पशु सम्पत्ति आदि के सम्बन्ध में वहां कितनी सुविधायें हैं, उसके तैयार करने में कितना व्यय होगा इत्यादि।

वर्षा—भूमि की उत्पादन शक्ति पर सिंचाई का बड़ा प्रभाव पड़ता है और सिंचाई का प्राकृतिक उपाय वर्षा है अतः यहां कौटल्य के तत्सम्बन्धी विचार दिये जाते हैं। भारतवर्ष में वर्षा का समय बहुत कुछ निश्चित है, अतः साधारणतया किसानों को इस से बड़ी सुविधा है। कौटल्य ने बतलाया है कि "वर्ष प्रमाण" नामक कुंड में एकत्रित जल को देखकर इस बात का निश्चय किया जा सकता है कि वर्षा कितनी मात्रा में हुई है। उसने भूमि-भेद से इस बात का विवेचन किया है कि भिन्न भिन्न वस्तुओं की अच्छी फसल के लिये किस किस भाग में कितनी वर्षा पर्याप्त मानी जा सकती है। उसने यह भी बतलाया है कि सूर्य मंडल, शुक्र बृहस्पति की गति अथवा बादलों के रंग ढंग को देख कर किसप्रकार कई मास पूर्व यह अनुमान हो सकता है कि वृष्टि उचित तथा लाभकारी होगी या नहीं।

इस सम्बन्ध में कौटल्य ने जो व्यौरेवार बातें लिखी हैं, उन्हें यहां विस्तार भय से नहीं लिखा जाता। इसमें सन्देह नहीं कि उन बातों से जहां आचार्य की तीक्ष्ण बुद्धि का परिचय मिलता है, वहां यह भी भलीभांति सिद्ध होता है कि भारतवर्ष ने अब से सवा दो हजार वर्ष पूर्व बड़े ऊंचे दर्जे की वैज्ञानिक तथा भौतिक ज्योतिष सम्बन्धी उन्नति करली थी। अस्तु, यही नहीं, कि यहां वर्षा से अधिकतम लाभ उठाया जाता था, वरन् प्राकृतिक स्थिति को अध्ययन करके यहां पहले से यह अनुमान

कर लिया जाता था कि वर्षा कब और कितनी मात्रा में होगी। इससे खेत की तैयारी का समय जानने, और वर्षा का समुचित उपयोग करने में बड़ी सहायता मिलती थी।

जंगलों की तुलनात्मक उपयोगिता—अपने समय की परिस्थिति के अनुसार कौटल्य इस प्रश्न पर भी विचार करता है कि हाथियों के जंगल से लकड़ी आदि का जंगल अच्छा है या नहीं। कौटल्य से पूर्व भारतीय अर्थ शास्त्री लकड़ी आदि के जंगल को ही अधिक पसन्द करते थे, कारण कि उसमें अनेक उपयोगी पदार्थ होते हैं, तथा वे सरलता से संचित किये जा सकते हैं; किन्तु हाथी वाले जंगल के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। आचार्य कौटल्य ने इससे अपना मतभेद प्रकट किया है। उनकी राय है कि लकड़ी के जंगल की पैदावार तो अपनी इच्छानुसार पैदा की जा सकती है* परन्तु हाथियों के विषय में बात दूसरी है, वे किसी किसी जंगल में ही पैदा होते हैं। राजनीतिज्ञ आचार्य ने हाथियों के सैनिक उपयोग को ध्यान में रखा है। उस समय हाथियों का मूल्य और मांग भी बहुत थी। यद्यपि आज कल कहीं कहीं घोड़े अपने जंगल से ले जाये जाकर दूसरे जंगलों में बढ़ा लिये गये हैं, किन्तु अभी यह प्रयत्न पूर्णतया सफल नहीं

---

*जोधपुर के महाराज जसवन्तसिंह ने यहां काबुल का अनार पैदा किया था। आजकल यहां कपूर के जंगल सफलता-पूर्वक लगाये गये हैं, और 'युकलिपटस' लगाने का प्रयत्न होरहा है।

कहा जा सकता; हाथियों के सम्बन्ध में तो ऐसा प्रयत्न होने की बात सुनने में ही नहीं आयी।

जंगलों से मिलने वाली उपयोगी वस्तुएं—यद्यपि कौटल्य की दृष्टि में हाथियों के जंगलों का महत्व विशेष है, तथापि वह अन्य जंगलों की उपयोगिता को विस्मरण नहीं करता। वह बतलाता है कि उनसे निम्न लिखित वस्तुएं [कुप्य वर्ग] संग्रह की जानी चाहिये, तथा उनसे विविध वस्तुयें बनवायी जानी चाहिये।

[क] सारदारु वर्ग, अर्थात् इमारत के काम में आने वाली बढ़िया और मज़बूत लकड़ी, सागून, तुन या तेंदुआ, पीपल, अर्जुन, महुआ, तिलक या फरास, साल, शीशम, कई प्रकार के बबूल, खिरनी, खैर, देवदार, ताल, साल, आम, कदम्ब, गूलर आदि।

[ख] बांस (अर्थशास्त्र में इसके कई भेद गिनाये गये हैं)।

[ग] लता जैसे बेंत, पूरीक वल्ली (हंस वल्ली), वाशी, श्याम लता, नागलता (नागर पान को वेल) आदि।

[घ] बल्क वर्ग अर्थात् जिन पेड़ों की छाल काम में आती है। इनमें चमेली, मूर्वा (मरोर फली), आख, सन, नागवला, अलसी आदि सम्मिलित हैं।

[च] रस्सी आदि बनाने का सामान मूंज, वल्वज या लवा [एक प्रकार की घास] आदि।

[छ] पत्र या कागज का काम देनेवाला सामान, ताली, और ताल [ताड़ के भेद] तथा भोज पत्र।

[ज] रंग के काम की चीजें, ढाक, कसूम, केसर।

[झ] औषधि वर्ग अर्थात् विविध प्रकार के कन्द मूल और फल।

[ट] विष (अर्थशास्त्र में जंगल में पैदा होने वाले विषों के बहुत से भेद गिनाये गये हैं), तथा विष वर्ग, अर्थात् सांप कीड़े, मेंढक, छिपकिली आदि विषैले जानवर, जो घड़े में बंद किये जाकर विष की तरह काम में आ सकते हैं।

[ठ] गोह, चन्दन गोह, बघेरा, शिंशुमार (घड़ियाल या नाका), सिंह, चीता, हाथी, भैंसा, चमर गाय, गेंड़ा, नीलगाय, हिरन आदि जंगली जानवरों से प्राप्त होने वाली खाल, हड्डी, पित्ता, स्नायु (जिससे तांत बनती है) दांत, सींग, खुर, पूंछ आदि।

फसलवाली और खानवाली भूमि—कौटल्य के मत से खान की अपेक्षा फसल पैदा करनेवाली जमीन अच्छी है, कारण कि धान्य आदि की पैदावार से रुपया भी इकट्ठा हो सकता है, और खाने पीने की दिक्कतें भी दूर हो जाती है। किन्तु खान से केवल एक ही काम निकल सकता है, और खाद्य सामिग्री के अभाव में समस्त सांसारिक व्यवहार ही बंद होजाता है। तथापि तीक्ष्णदर्शी आचार्य का मत है कि खानवाली भूमि

बहुत विस्तार वाली हो तो वह अच्छी है, क्योंकि उससे खनिज वस्तु के व्यापार का एक स्वतंत्र कार्य चल सकेगा।

खानों के दो भेद होते हैं स्थलीय और समुद्रीय। इनसे मिलने वाली वस्तुओं का उल्लेख, अर्थ शास्त्र में इस प्रकार हुआ है:—

लोहा (जिसमें काला लोहा, ताम्बा, कांसा, सीसा, रांगा, पीतल, और लोहे के अन्य भेद सम्मिलित हैं) शुद्ध दशा में प्राप्त हुआ, रसविद्ध अर्थात् रसायन द्वारा बनाया हुआ, और आकरोद्गत अर्थात् खान से निकलने वाला अशुद्ध सोना। रंग के भेद से इसकी पांच किस्में बतायी गयी हैं। सोने को अन्य धातुओं के मेल से और भी कई प्रकार का बनाया जाता था जो आजकल के 'रोल्ड गोल्ड' आदि के ढंग का होता होगा। चांदी भी कई प्रकार की बतायी गयी है।

मोती उत्पत्ति भेद से तीन प्रकार का सीप शंख और हाथी सांप आदि से प्राप्त होने वाला, तथा स्थान के भेद से दस तरह का बताया गया है। मणि उत्पत्ति स्थान के भेद से तीन तरह की और रंग के भेद से पांच तरह की बतायी गयी है। नीलम रंग के भेद से आठ प्रकार का बताया गया है। हीरा उत्पत्ति स्थान के भेद से छः तरह का और रंग भेद से अनेक तरह का बताया गया है। मूंगा उत्पत्ति स्थान के भेद से दो तरह का बताया गया है।

भारतभूमि चिरकाल से रत्न गर्भा प्रसिद्ध रही है। अब

यहां विविध पदार्थ पाये जाते हैं। अब कुछ समय से वे अधिकाधिक मात्रा में निकाले जा रहे हैं, परन्तु उनके निकालने का काम अधिकतर विदेशियों के हाथ में है। हमारी खानें खाली हो रही हैं और उनका उपयोग इस देश के हित को लक्ष्य में रखकर नहीं किया जा रहा है। कौटल्य के समय में ऐसा नहीं होता था, न हो ही सकता था।

समुद्र तट—आचार्य समुद्र और समुद्र-तट के आर्थिक महत्व को खूब समझता था। उसने मोतियों और अन्य प्रकार के बहुमूल्य जवाहरात की उत्पत्ति के दस समुद्र-तटों का उल्लेख किया है, उनमें भारतीय समुद्र-तट के अतिरिक्त सिंहल द्वीप, इरान, वार्बर (सम्भवतः अफ्रीका का किनारा), मलाया और यूनान आदि देशों के समुद्र-तट गिनाये हैं।

भूमि का विस्तार—कौटल्य ने भूमि सम्बन्धी विविध बातें अधिकतर भारतवर्ष को ही लक्ष्य में रखकर बतलायी हैं। अतः यह जान लेना उपयोगी होगा कि उसके समय में कितनी भूमि इस देश के अन्तर्गत मानी जाती थी। विदित हो कि भारतवर्ष के पश्चिम में चन्द्रगुप्त का राज्य, काठियावाड़ तक फैला हुआ था। वहां उस समय चन्द्रगुप्त की ओर से पुण्यगुप्त गवर्नर का काम करता था। इतिहास लेखक स्मिथ के अनुसार सेल्यूकस से सन्धि हो जाने के पश्चात सन् ३०३ ई० पूर्व के लगभग संपूर्ण पंजाब, काबुल, हिरात, कंधार और मकरान तक

का प्रान्त चन्द्रगुप्त के राज्य में शामिल हो चुका था * अर्थात् उसके राज्य का एक विशिष्ट भाग सिन्धु तथा हिन्दूकुश पर्वत के दूसरी ओर अफगानिस्तान, बिलोचिस्तान और ईरान तक फैला हुआ था। यह नहीं कहा जा सकता कि उसके राज्य की दक्षिणी सीमा क्या थी। हाँ स्मिथ ने यह लिखा है कि अशोक के समय में, मौर्य राज्य वर्तमान मैसूर तक था, साथ ही उसका यह भी कथन है कि अशोक ने कलिंग (उड़ीसा) प्रान्त के सिवाय और कोई विजय भी नहीं की। अतः यह स्वीकार करना पड़ता है कि दक्षिण का नर्मदा पार का शेष भाग भी (पांड्य आदि तत्कालीन दो एक छोटे मोटे राज्यों को छोड़कर) चन्द्रगुप्त के समय में ही मौर्य राज्य में मिल गये होंगे। पूर्व में, इस राज्य की सीमा स्मिथ ने बंगाल--सागर तक स्वीकार की है। इसप्रकार केवल दक्षिण में भारतवर्ष का थोड़ा सा भाग उस राज्य की सीमा से बाहर था और पूर्व में तो वह राज्य वर्तमान भारत से कहीं अधिक विस्तृत था।

भूमि की नाप जोख--भूमि के यथेष्ट उपयोगी होने के लिये उसकी नाप जोख होना आवश्यक है। अर्थशास्त्र में खेतों को नापने और सीमा द्वारा विभाजित करने की पद्धति भी बतलायी गयी है। आचार्य कौटल्य ने खेतों की नपाई के

---

* स्मिथ ने चन्द्रगुप्त का राज्यकाल सन् ३२२ ईसा पूर्व से २९८ ईसा पूर्व तक स्वीकार किया है।

लिए साधारणतया वे ही पैमाने स्वीकार किये हैं जो और वस्तुओं को नापने के लिए काम में आते थे; हां कहीं कहीं कुछ भेद भी कर दिया है। उस समय नाप की इकाई 'वितस्ति' (या बीता) मानी जाती थी। यह बारह अंगुल की होती थी। दो वितस्ति अर्थात् २४ अंगुल का एक हाथ होता था, इसे प्राजापत्य हाथ कहते थे। इसके आगे के पैमाने इस प्रकार थे:--

४ हाथ का	१ दंड
१० दंड का	१ रज्जू (गट्ठा या जरीब)
२ रज्जू का	१ परिदेश
$१\frac{१}{२}$ परिदेश का (तीस दंड)	१ निवर्तन
$६६\frac{२}{३}$ निवर्तन या दो हजार धनु (दंड) का	१ गोरुत या कोस
४ गोरुत का	१ योजन

जिस परिमाण में लम्बाई चौड़ाई एक सी न होकर, एक ओर तीस दंड, और एक ओर बत्तीस दंड हो, उस परिमाण को 'बाहु' कहते थे।

चरागाह नापने में एक हाथ २४ के बजाय २८ अंगुल का समझा जाता था। जंगल नापने के लिए एक हाथ की लम्बाई

५४ अंगुल प्रचलित थी। जो भूमि ब्रह्मदेव या माफी की होती थी, उसमें एक दंड छः कंस अर्थात् १९२ अंगुल का माना जाता था।

आचार्य के भूमि सम्बन्धी विचारों को यहां समाप्त करके, अब अगले परिच्छेद में हम उनके श्रम सम्बन्धी विचारों का परिचय देंगे।

—:o:—

पांचवां परिच्छेद

श्रम या जनता

भूमि से स्वयं बहुत थोड़े, सो भी कच्चे पदार्थ उत्पन्न होते हैं। उन्हें भी संग्रह करके रखने या अधिक उपयोगी बनाने के लिये श्रम की आवश्यकता होती है। फिर जो पदार्थ भूमि से स्वयं उत्पन्न नहीं होते उन की तो उत्पत्ति के लिए ही श्रम की आवश्यकता अनिवार्य है। स्मरण रहे कि श्रम से अभिप्राय मानवी श्रम से होता है और इसमें शारीरिक बल के अतिरिक्ति मनुष्यों के मानसिक काम, आचार विचार, ज्ञान, कौशल, दिमाग, व्यवहार, धर्म, रीति, रहन सहन आदि सम्बन्धी वह समस्त योग्यता समझली जाती है जो धनोत्पादन में सहायक हो स के।

आचार्य कौटल्य के जनता सम्बन्धी अन्य विचार जानने से पूर्व उनके जन संख्या विषयक विचार जान लेना चाहिये।

जन संख्या—आचार्य कौटल्य ने इस विषय का वैज्ञानिक रीति से सम्यग विचार किया है। उस ने लिखा है कि ग्रामों और नगरों का आर्थिक दृष्टि से वर्गीकरण किया जाय। मकानों की एवं भिन्न भिन्न वर्णों और पेशे के मनुष्यों की गणना हो। मनुष्य गणना में किसान, ग्वाले, बनजारे, कारीगर,

मजदूर और दास तथा इन के भेदात्मक शीर्षक नियत किये जांय। साथ ही पुरुषों और स्त्रियों की शिक्षा सम्बन्धी योग्यता उनकी आयु, काम, पेशा, आय-व्यय के साधन भी लिखे जांय। नगरों की आबादी देखने के लिये जो रजिस्टर तैयार किये जांय, उन में लोगों की जाति तथा गोत्रों के नाम भी दर्ज किये जांय।

यद्यपि अर्थशास्त्र से यह प्रकट नहीं होता कि यह गणना कितने कितने समय के अन्तर से हुआ करती थी किन्तु सम्पूर्ण विषय को ध्यान में रखने से यही अनुमान होता है कि उक्त रजिस्टर जन्म मरण के लेखे के साथ मिलान करके हर समय पूर्णत: तैयार (Up-to-date) रखे जाते थे।

अस्तु, अब तनिक यह भी जानलें कि जनता की वृद्धि के विषय में आचार्य का क्या मत था।

जनता की वृद्धि—आचार्य देश की जन संख्या की वृद्धि को अच्छा समझता था कारण कि उस के मत से लोगों के विविध कार्यों से राजा तथा राज्य को सुख समृद्धि प्राप्त होना अनिवार्य है। इस सम्बन्ध में हमें स्मरण रखना चाहिये कि उसके समय में लोगों को आजकल की तरह दरिद्रता और आर्थिक चिन्ता का जीवन व्यतीत नहीं करना पड़ता था। खाने पहनने की विपुल सामग्री देश में उत्पन्न होती थी। पिछले परिच्छेद से यह मालूम हो ही गया होगा कि नयी भूमि तलाश करके उसे

उत्पादक बनाने की ओर राज्य का यथेष्ट ध्यान था। इसलिये उन दिनों अत्यधिक जनता (Over-population) के भय से राजा और प्रजा मुक्त थी। उन्हें सन्तति निरोध की आवश्यकता न थी, यदि आवश्यकता थी तो जन संख्या की वृद्धि की। इसी आवश्यकता के विचार से उस समय बहु विवाह की प्रथा थी, और कौटल्य ने इसका विरोध नहीं किया है। वह कहता है कि पुरुष कई स्त्रियों से विवाह कर सकता है। स्त्रियां सन्तानोत्पत्ति के लिये हैं। अवश्य ही संतान हृष्ट पुष्ट और स्वस्थ होनी चाहिये, न कि क्षुधा पीडित, अस्थि-पिंजर मात्र, जैसी कि आजकल भारत में प्रायः देखने में आती है।

आजकल सभ्य जातियों में बहु-विवाह की प्रथा प्रायः उठ रही है। धनी और शौकीन स्त्री पुरुष माता पिता बनने के उत्तरदायित्व से बचना चाहते हैं और निर्धन आदमी आर्थिक चिन्ताओं के कारण सन्तान का स्वागत करने में असमर्थ होते हैं। ऐसी दशा में आचार्य कौटल्य के ये विचार पाठकों की कटु आलोचना के पात्र होने स्वाभाविक हैं। परन्तु किसी महा पुरुष के वाक्यों की तत्कालीन स्थिति का विचार किये बिना, आलोचना करने बैठना उचित नहीं है। कौटल्य के ध्यान में जनता की वृद्धि का प्रश्न विशेष रूप से रहा है। *

*आजकल भी इटली के भाग्य-प्रवर्तक मुसोलिनी का मत है कि राष्ट्रीय संगठन का सबसे बड़ा साधन जन-संख्या को बढ़ाते रहना है। उसने एक बार स्त्रियों की सभा में कहा था, 'बहनो! इस शताब्दी के अपरार्द्ध में

श्रमजीवियों के भेद—कौटलीय अर्थशास्त्र में किसी एक स्थान पर श्रमजीवियों का पूर्ण रूप से वर्गीकरण नहीं किया गया है, और आजकल जैसा सूक्ष्म वर्गीकरण उस समय प्रचलित भी नहीं था। आचार्य ने इनके निम्न लिखित भेदों का उल्लेख किया है।

[१] कारीगर जिनमें रुई, ऊन, और रेशमी वस्त्र बुनने वाले शामिल हैं।

[२] खान सम्बन्धी काम करने वाले, जिनमें धातु शोधने वाले भी सम्मिलित हैं।

[३] धातुओं के आभूषण तथा पात्र आदि बनाने वाले; इनमें ताम्बा, पीतल, कस्कुट [कांसा] आदि के बर्तन बनाने वाले भी शामिल हैं।

[४] बढ़ई।

[५] सूत्रकार, मकानादि बनाने वाले।

[६] कुम्हार, धोबी, रंगरेज, बांस की चीज बनाने वाले, खोंचा आदि बेचने वाले।

इटली को छः करोड़ की जन-संख्या लेकर प्रवेश करना होगा।' इटली की जन संख्या सन् १९२१ ई० में ३९७ लाख और १९३१ में ४२१ लाख थी। प्रत्येक राष्ट्र के सूत्र-संचालकों को देश काल का विचार करके इस विषय में अपनी नीति स्थिर करनी चाहिये। हां, बहुविवाह की प्रथा सधारणतया त्याज्य ही है।

[७] राज्य की सेवा करने वाले, सैनिक, छोटे कर्मचारी मोहर्रिर आदि तथा गांव के नौकर, चौकीदार आदि ।

[८] वैद्य, चिकित्सक।

[९] पुरोहित और ज्योतिषी ।

[१०] गाने बजाने का पेशा करने वाले नट, कुशीलव आदि;

[११] विविध, स्नानागार के नौकर, नायी, सफाई का काम करने वाले, समाचार लाने लेजाने वाले;

इनके अतिरिक्त खेतों में मज़दूरी करने वाले और घरों में काम करने वाले 'आहितक' (दैनिक वेतन पाने वाले) आदि गिने जाने चाहिये ।

शिक्षा—देश की तत्कालीन सम्पन्नता और विलासिता से कला कौशल के जिस विकास का अनुमान होता है वह नियम पूर्वक शिक्षण के बिना स्थायी नहीं होसकता था । अर्थशास्त्र से विदित होता है कि उस समय श्रमियों की शिक्षा का प्रबन्ध मुख्यतया दो प्रकार से होता था, अर्थात् मज़दूर संघों के द्वारा और अध्यक्षों के द्वारा । भिन्न भिन्न पेशे वालों के संघ उस पेशे सम्बन्धी शिक्षा की व्यवस्था किया करते थे और विविध सरकारी विभागों के अध्यक्ष अपने कार्यों को संचालन करने के लिये बहुत से श्रमियों को वेतन पर रखकर उनसे काम कराते तथा उन्हें अनेक वस्तुएं बनाने की शिक्षा देते थे ।

आचार्य ने उस शिक्षा की ओर भी यथेष्ट ध्यान दिया है; जो वर्णाश्रम धर्म के अन्तर्गत है। प्राचीन नीति के अनुसार यहां द्विजों अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य के लिये पढ़ना आवश्यक अर्थात् अनिवार्य है। समाज पहले इस सार्वजनिक शिक्षा का महत्व भलीभांति समझता था और वह गुरुकुल, आचार्य कुल या ऋषिकुलों आदि की यथेष्ट व्यवस्था करता था। राज्य इन संस्थाओं को समय समय पर भूमि या अन्न आदि के रूप में सहायता प्रदान करता था और इनकी सम्पत्ति को कर-मुक्त रखता था। विशेष विद्वानों को, चाहे वे किसी भी जाति के क्यों न हों, राज्य की ओर से केवल उनके सत्कारार्थ अच्छी वृत्ति हो जाया करती थी। आचार्य कौटल्य ने इस वृत्ति को 'पूजा वेतन' और शिक्षा-व्यय को 'देव पूजा' संज्ञा दी है। सम्भव है कुछ शिक्षा संस्थायें राज्य के अधीन भी कार्य करती हों। भारतवर्ष के तक्षशिला आदि स्थानों के विश्वविद्यालय दूर दूर तक विख्यात थे।

अर्थशास्त्र में ऐसी कोई बात नहीं पायी जाती, जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि आचार्य शूद्र, अति शूद्र, दास, म्लेच्छ या स्त्रियों की शिक्षा के विरुद्ध थे; प्रत्युत वे तो पुलिन्द, शवर, चांडाल, किरात आदि जंगली जातियों को भी शिक्षित करके उनसे उपयोगी कार्य लेने के पक्ष में थे। उसने स्थान-स्थान पर बेकार और बदचलन स्त्री पुरुषों को उपयोगी कार्यों में लगाये जाने की योजना करते हुए शिक्षा कार्य को उत्तेजना दी है।

स्वास्थ और चिकित्सा—मनुष्य श्रम तभी अच्छी तरह कर सकते हैं, जब उनका स्वास्थ ठीक हो, एवं उनके अस्वस्थ होने की दशा में उनकी चिकित्सा की यथेष्ट व्यवस्था हो। यही कारण है कि धनोत्पत्ति का कार्य निर्विघ्न चलना रखने के लिये नागरिकों के स्वास्थ्य और चिकित्सा के विषय में समुचित ध्यान दिया जाना आवश्यक होता है। कौटल्य भी इस ओर उदासीन न था। उसकी सम्मति में खाद्य वस्तुओं में मिलावट करना या नकली चीजें बेचना असह्य अपराध था। उसने धान्य, घी, तेल आदि, क्षार (नमक), सुगंधित द्रव्य और औषधियों की मिलावट रोकने के नियम विशेष रूप से प्रचलित किये थे। इसीप्रकार सफाई की दृष्टि से आचार्य राज मार्ग, मंदिर, विद्यालय आदि पुण्य स्थानों, कुएं तालाब आदि जल स्थानों और सरकारी इमारतों के पास कूड़ा कीच या पानी आदि डालकर रास्तों को रोकना अथवा इन स्थानों पर मलमूत्र डालना या बिलाव, कुत्ता, नेवला, सांप, गधा, ऊंट, खच्चर, घोड़ा और मनुष्य की लाश डाल देना निंदनीय ठहराता है। वह तो मुर्दों को लेजाने का मार्ग भी अलग बनाने की सलाह देता जान पड़ता है। उसने नगर निर्म्माण सम्बन्धी नियम इसप्रकार बनाये हैं कि वायु की गति उस दिशा से बची रहे जिसमें गंदे और मैले काम करने वाले मनुष्यों की आबादी हो। स्वास्थ्य का ऐसा विकसित विचार आधुनिक म्यूनिसिपैलटियां भी कार्य में परिणित नहीं कर रही हैं। शिल्प शालाओं, मद्य और मांस की

दूकानों और अन्य सार्वजनिक स्थानों के विषय में भी उसने ऐसे ही नियम बनाये हैं। 'नागरिक' (नगर-अधिकारी) को विशेष रूप से नाली मोरी आदि जल बहने के मार्ग और जलाशयों की देख भाल करनी होती थी।

निदान, आचार्य ने इस बात का यथेष्ट विचार किया है कि जनता में यथा-सम्भव कोई रोग होने ही न पावे। परन्तु उसने सार्वजनिक चिकित्सा की भी उपेक्षा नहीं की है। अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि नगराध्यक्ष और ग्रामाध्यक्ष औषधियां बांटने वाले वैद्यों का समुचित प्रबन्ध करते थे।

श्रमजीवियों की उन्नति—शिक्षा स्वास्थ्यादि की व्यवस्था करने के अतिरिक्त, आचार्य ने इस बात पर भी यथेष्ट ध्यान दिया है कि श्रमजीवी मद्यपान, वेश्यागमन और विलासिता के दूषित प्रभाव से रक्षित रहें। मद्यपान और वेश्यागमन के विरोध या नियंत्रण सम्बन्धी, आचार्य के विचार अन्यत्र 'दुरुपयोग का नियंत्रण' परिच्छेद में दिये गये हैं। तमाखू, सिग्रेट, बीड़ी, चाय आदि ऐसी वस्तुओं का प्रचार उस समय हुआ नहीं जान पड़ता जो आजकल श्रमजीवियों में शीघ्रता से घुसती जा रही हैं, इसलिये इनके सम्बन्ध में कौटल्य के नियमों में कठोरता न दिखायी पड़े तो आश्चर्य ही क्या है।

श्रमजीवियों को काम में लगाये रखने के विचार से आचार्य ने व्यवस्था की है कि खेल तमाशेवाले इन लोगों में न आने जाने पावें। अर्थशास्त्र के 'दुर्ग निवेश' प्रकरण में वह मजदूरों

की आबादी पश्चिम में ऐसे स्थान पर होने का नियम बनाता है जहां निकट ही अश्वशाला, गज शाला, रथ शाला, और उसके बराबर में ऊन, सूत, बांस, चमड़ा, कवच, शस्त्र, कम्बल आदि के कारीगरों की आबादी हो, और इस तरह उन्हें खेल कूद में समय बिताने के लिये एकान्त में नहीं रहने देता। उसने इस बात की भी व्यवस्था की है कि श्रमजीवियों को, काम समय पर और अच्छा करने की दशा में इनाम आदि मिलता रहे, जिससे वे प्रोत्साहित होकर अपने क्षेत्र में उन्नति करें।

श्रम विभाग—भारतवर्ष में सीधे सादे श्रम विभाग की प्रथा बहुत समय से है। स्त्रियों का, घर का काम करना, और पुरुषों का, बाहर जाकर आजीविका प्राप्त करना एकप्रकार का श्रम विभाग ही है। कौटल्य ने आवश्यकतानुसार स्त्रियों की आजीविका प्राप्ति की भी व्यवस्था की है, जिसका उल्लेख आगे किया जायगा। भारतवर्ष की वर्णाश्रम व्यवस्था श्रम विभाग का ही एक स्थूल रूप है। आचार्य इसे उपयोगी मानता है, और कहता है कि इसके भंग करने से समाज छिन्न-भिन्न होजाता है।

साधारणतया ब्राह्मणों का कार्य शिक्षा प्रचार, क्षत्रियों का देश रक्षा, और वैश्यों का कृषि, पशु पालन और व्यापार एवं शूद्रों का सेवा करना माना जाता है। परन्तु आचार्य अंतिम दो वर्णों से युद्ध कार्य भी लेने के पक्ष में है। उसका मत है कि सधारणतया ब्राह्मण अच्छे योद्धा नहीं होते, क्योंकि शत्रु सिर झुकाकर प्रणाम करके तथा खुशामद आदि से उन्हें वश में कर

सकता है; यह बात वैश्यों और शूद्रों में नहीं होती, वे अच्छे योद्धा हो सकते हैं। युद्ध विद्या सीखे हुए क्षत्री तो सर्वोत्तम योद्धा होते ही हैं। शूद्रों के कर्तव्यों में आचार्य ने द्विजातियों की सेवा के अतिरिक्त, खेती, पशु पालन, व्यापार, कला कौशल, गाना बजाना आदि भी सम्मिलित किया है। *

अर्थशास्त्र से विदित होता है कि प्राचीन काल में यहां वागुरिक, शवर, पुलिन्द और चांडाल आदि जातियों के आदमी ऐसे विश्वसनीय माने जाते थे कि उन्हें पहरेदारी तक का भार दे दिया जाता था। नौने और किरात आदि असभ्य माने जाने वाले आदमियों को गुप्तचर आदि का भी कार्य सिखा दिया जाता था। इसप्रकार भारत के प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने ऐसी व्यवस्था की थी कि समाज के सब अंगों को अपनी विविध शक्तियों के समुचित विकास का अवसर मिले; सब राष्ट्र के कार्य में सहयोग करें, कोई अनुपयोगी न रहे। प्राचीन अर्थशास्त्र की यह विशेषता स्मरण रखने योग्य है।

यह तो हुई वर्ण व्यवस्था सम्बन्धी बात। आश्रम धर्म को

---

* आचार्य ने रक्षा-कार्य क्षत्रियों केअ तिरिक्त वैश्यों और शूद्रों से लेने की व्यवस्था की है, तथा शूद्रों के कर्तव्यों में खेती पशु पालन और व्यापार जैसे उन कार्यों का भी समावेश किया है जो वैश्यों के माने जाते है, तथा स्वयं उसने बतलाये हैं। इससे प्रतीत होता है कि आचार्य ने जाति भेद को आजकल की भांति कठोर रूप में माना नहीं था, अथवा जाति भेद को आधुनिक स्वरूप कौटल्य के बाद प्राप्त हुआ है।

भी आचार्य साधारणतः स्वीकार करता है, परन्तु जान पड़ता है कि उसके समय में वानप्रस्थ आश्रम वाले अपने महान उद्देश्य को छोड़कर, आर्थिक दृष्टि से समाज के लिये हानिकारक बन रहे थे। कौटल्य उनकी गणना निर्धन, अशिक्षित और शूद्रों के साथ करता है, और शायद उन्हें अधिक उपयोगी बनाने के लिये ही उनको जासूसी जैसे राजकीय सेवा कार्य में लगाये जाने की सलाह देता है।

अर्थशास्त्र से मालूम होता है कि उस समय प्रायः अधिकांश सन्यासियों में भी दुराचार आलस्य आदि दोष आगये थे, और आचार्य को इन सब बुराइयों को दूर करने की चिन्ता थी। अतः उसने इस विषय के आवश्यक नियम दिये हैं। उसका आदेश है कि किसी आदमी को सन्यास या वानप्रस्थ लेने की अनुमति उसी दशा में मिले जब वह बहुत वृद्ध होजाय, अथवा वह अपने परिवार के भरण पोषण की पूरी व्यवस्था करदे। स्त्रियों को सन्यास लेने की प्रेरणा करने वालों को दंड दिया जाय।*

अस्तु, प्राचीन भारत में श्रम विभाग स्थूल रूप में प्रचलित

---

* ऐसा जान पड़ता है कि उस समय वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम की गिरी हुई दशा के सुधार में कौटल्य को विशेष सफलता नहीं मिली। हम देखते हैं कि अशोक के समय में भी यह प्रश्न इतना आवश्यक बना हुआ था कि उसने अपने आदेशों में स्थान स्थान पर अन्यान्य लोगों के अतिरिक्त पाखंडियों और सन्यासियों के सुधार पर यथेष्ट बल दिया है।

था। आचार्य कौटल्य ने इसी का समर्थन किया है। परन्तु आजकल इसके बहुत सूक्ष्म भेद कर दिये गये हैं। उदाहरण-वत् आधुनिक कारखानों में कपास को ओट कर बिनौले अलग करने, रुई धुनने, सूत कातने, कपड़ा बुनने आदि के अनेक प्रकार के भिन्न भिन्न कार्य करने वाले श्रमी रहते हैं। इस विक-सित श्रम विभाग के सहारे ही आजकल बड़ी मात्रा में उत्पत्ति होती है। इस पद्धति में श्रमियों का कष्ट दूर करने और उनका समय बचाने की बड़ी क्षमता है परन्तु इससे होने वाले धन-वितरण की असमानता के कारण आजकल पूंजीपति और मजदूरों के बड़े कलह और झगड़े होते हैं। इस विषय में विशेष विचार धन वितरण के प्रसंग में किया जायगा।

स्त्रियों का श्रम—आचार्य ने स्त्रियों के श्रम पर भी यथेष्ट विचार किया है। उसने बतलाया है कि स्त्रियों से उनकी सुवि-धानुसार रुई, ऊन या रेशम का सूत कतवाया जाय या जंगलों में काम कराया जाय। वह दासी, नटी, या कुमार्ग में प्रवृत्त स्त्रियों को ललित कलाओं में लगा देना उपयोगी और आवश्यक समझता था। ऐसे कार्यों की शिक्षा देने और व्यवस्था करने के लिये वह सरकारी सहायता दी जाने का अनुरोध करता है। उसने स्त्रियों को गुप्तचर विभाग में नियुक्त होने का भी मार्ग प्रशस्त कर दिया है। विधवा, अनाथ या निर्धन स्त्रियों के लिये धाय या रोगी-परिचारिकाओं का काम खोल कर कौटल्य ने उनके चरित्र रक्षा की महत्व-पूर्ण योजना की है।

उसने स्त्रियों के लिये शस्त्र धारण करके राजा, रईस या सरदारों के यहां पहरा देने का भी काम निकाला था। *

अनाथ और भिक्षुक आदि—देश में श्रम की न्यूनता न होने देने के लिये कौटल्य ने इस बात की ओर यथेष्ट ध्यान दिया है कि अनाथों और भिक्षुकों की संख्या यथासम्भव नियमित रहे। उसने यह व्यवस्था की कि जो आदमी आलस्य या आराम तलबी के कारण धनोपार्जन के कार्य से विमुख रहे, अपने स्त्री बच्चों को छोड़ दे, या उनका भरण पोषण न करे, या कोई आदमी अपने नाबालिग छोटे भाई बहिन की चिन्ता न करे तो उसे दंड दिया जाय।

अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि स्थान स्थान पर उस समय कुछ आदमी देवी देवताओं से बातचीत करने वाले, ज्योतिषी, योगी, भविष्य-वक्ता आदि के रूप में घूमा करते थे। इसके अतिरिक्त कुछ भिक्षुक और भिक्षुकी अपने पास कपड़ों पर खिंचे हुए देवी देवताओं के रंगीन और सादे चित्र रखते थे। वे गृहस्थियों के घरों में जाते, अपने चित्र सम्बन्धी गायन गाते और दर्शकों को चित्र दिखा दिखा कर उनका वर्णन सुनाते थे। बच्चों और स्त्रियों को बहलाने तथा बहकाने वाले ये भिक्षुक 'कौशिक'

---

* श्री जगन लाल जी गुप्त का मत है कि अर्थशास्त्र की प्रकाशित प्रतियों में जो गणिका शब्द आया है वह अशुद्ध है। शुद्ध शब्द 'गणका' होना चाहिये, और उसका अर्थ हथियार-बन्द स्त्री है।

और आदिति कहलाते थे। ये बौद्ध जैन और ब्राह्मण आदि होते थे। कौटल्य का मत है कि इन पर सख्ती की जाय और इन्हें शारीरिक दंड भी दिया जाय जिससे ये बिना ज़रूरत भिक्षा वृत्ति न करें।

आचार्य जंगली और जरायम-पेशा आदमियों से भी उपयोगी श्रम लेने के पक्ष में था।

बेगार—जान पड़ता है कि कौटल्य के समय में बेगार की प्रथा उस रूप में प्रचलित नहीं थी, जैसी आजकल समझी जाती है तथा कुछ भागों में अब जारी है। आचार्य ने लिखा है कि सरकारी कर न दे सकने वाले कुछ मजदूरों से इतना काम करा लिया जाय, जिसके काम से उनका कर चुक सके*। इसप्रकार यह श्रम सरकार ही करा सकती थी और वह भी सब प्रकार के मजदूरों से नहीं। इस श्रम में झाड़ू लगाना, पहरेदारी, तोलना, बोझ उठाना, नापना, पल्लेदारी आदि छोटी छोटी सेवायें ही लीजाती थीं। कर के रूप में तैय्यार वस्तुयें लेने की प्रथा उस समय प्रचलित नहीं जान पड़ती। राजा या ज़मींदार आदि अपने निजी कार्य के लिये ऐसा श्रम कराते हों, इसका भी कोई उल्लेख अर्थशास्त्र में नहीं पाया जाता।

दास और उनका श्रम—यद्यपि तत्कालीन विदेशी यात्रियों ने भारतवर्ष में दासों का अभाव स्वीकार किया है,

*इस दशा में भी मजदूरों को पर्याप्त भोजन और कुछ नकद वेतन मिलता था।

तथापि जान पड़ता है कि आचार्य कौटल्य से पूर्व भारतवर्ष में, किसी न किसी सीमा तक दासता थी अवश्य, इसीलिये उसने ऐसे नियम बनाये जिनके अनुसार कार्य होने से दासों की दशा बहुत सुधर गयी, उनके सदाचार की रक्षा होगई, और अन्ततः इस प्रथा का प्रायः उन्मूलन ही होगया। आचार्य ने यह असंदिग्ध घोषणा कर दी कि आर्य कभी दास नहीं हो सकता *। स्मरण रहे कि वह शूद्रों को भी आर्य जाति का मानता था। उसने उनके बच्चों की भी विक्री रोकदी और न केवल बच्चा बेचने वाले शूद्र को (चाहे वह उसका पिता ही क्यों न हो) वरन् इस विक्री की दस्तावेज पर साक्षी देनेवाले को भी दंडित ठहराया। उसने यह भी नियम कर दिया कि अपने आपको बेचने वाले की सन्तान दास न समझी जाय। दासों की आठ वर्ष से कम उम्र की सन्तान से काम लेनेवाला व्यक्ति दंड पाये। छोटे अनाथ बच्चों को विदेश में लेजाकर, बेचने, गिरवी रखने, अथवा गर्भवती दासी को प्रसव का प्रबन्ध किये बिना बेचने गिरवी रखने, खरीदने वाले और खरीद के दस्तावेज पर साक्षी

---

* इसका अर्थ यह है कि परस्पर आर्य राजाओं के युद्ध में कैदी सैनिक जो साधारणतया मनु आदि प्राचीन आचार्यों के मतानुसार दास समझे जाते थे, आगे दास न माने जांय। विशेषतः जब कौटल्य का शिष्य सम्राट चन्द्रगुप्त उनके छोटे बड़े राजाओं को जीत कर असंख्य सैनिकों को लड़ाई का कैदी बना रहा था, उक्त घोषणा कितनी गौरव-पूर्ण मालूम होती है।

देनेवाले को भी दंड दिया जाय। इससे स्पष्ट है कि आज की प्रतिज्ञाबद्ध कुली प्रथा के सामने चन्द्रगुप्त की प्रजा के दास आचार्य की कृपा के कारण कहीं अधिक स्वतंत्र थे।

बालिग आदमियों की किसी कारण से स्वेच्छापूर्वक स्वीकार की हुई दासता को रोकना कठिन था। परन्तु आचार्य ने उनके अधिकार भी इतने अधिक कर दिये कि उनकी मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होगया वे कुछ दशाओं में स्वतंत्र से ही होगये *।

स्वदेशी विदेशी श्रम—यद्यपि कौटल्य के समय में कुछ विदेशी यहां बसे हुये थे, परन्तु ऐसा अनुमान है कि उनकी संख्या बहुत परिमित थी तथा उनकी परिस्थिति व्यापारी तथा राजकर्मचारियों से भिन्न नहीं थी अर्थात् उनमें किसान मजदूर या कारीगर आदि कम ही थे। उन्हें अपने जीवन की सब आवश्यकतायें यहां से ही पूरी करनी पड़ती थीं। अर्थशास्त्र

---

* उदाहरणवत् उसने यह व्यवस्था की कि यदि कोई दास अपने स्वामी को अपना मूल्य देकर या दिलाकर स्वतंत्र होना चाहे तो मालिक को उसे स्वतंत्र करना पड़े। यदि किसी दासी के उसके स्वामी से संतान होजाय या वह उससे मुर्दा या मल मूत्र उठवाये, या झूठा खिलाये, मारे पीटे, अथवा उसका सतीत्व हरण करे तो वह दासी स्वतंत्र होजाय। चोर अपराधों के अपराधी अपने अपराध के बदले में जुर्माना देने पर स्वतंत्र समझे जांय। अपने आपको भूल से बेचने वाला मनुष्य कभी दास न माना जाय। दास अपनी स्वतंत्र पूंजी इकट्ठा कर सके और वह सामान्य कानून के अनुसार उसके वारिसों को मिले।

में कम्बोज (काबुल) को छोड़ कर ऐसे किसी संघ का उल्लेख नहीं पाया जाता जो विदेशियों ने यहां स्थापित किया हो। कौटल्य ने राजकर्मचारियों की नियुक्ति के विषय में यह सूचना दी है कि वे स्वदेशवासी ही होने चाहियें। इससे विदित होता है कि वह साधारणतः सबप्रकार के और विशेषतः उच्चप्रकार के श्रम के लिये स्वदेशी श्रम जीवियों को ही प्रोत्साहन देने के पक्ष में था।

छठवां परिच्छेद

पूंजी

प्राक्कथन—धन की परिभाषा पहले की जा चुकी है। पूँजी मनुष्य द्वारा उपार्जित वह धन है, जो और अधिक धन पैदा या तैयार करने में लगाया जाय। भिन्न भिन्न उत्पादकों की पूंजी अलग अलग तरह की होती है, किसान की पूंजी उसका हल बैल, तथा खेती के अन्य उपकरण बीज आदि हैं, यद्यपि धनी मनुष्य के बैल केवल उसकी सवारी गाड़ी में काम में आने से उसके उपभोग की ही वस्तु हो सकते हैं। कारीगरों की पूंजी में उनके औजार आदि गिने जाते हैं। भिन्न भिन्न प्रकार के श्रमजीवी, अपने काम के दिनों में भोजन वस्त्र आदि जिन वस्तुओं का उपभोग करते हैं, वह सब भी उनकी पूँजी ही में गिनी जाती हैं।

पशु पूंजी की वृद्धि और रक्षा—कौटल्य ने हाथी, घोड़े, गाय, बैल, भैंस, ऊंट, खच्चर, भेड़, बकरी आदि पशुओं की रक्षा करने, उनकी गणना करने, उनकी नस्ल को कायम रखने, उन्हें अधिक बलवान और उपयोगी बनाने के लिये कई कार्याध्यक्षों की योजना की है। वह जवान बैलों या भैंसों आदि को लड़ाने या लड़ाई में मरवाने के बहुत विरुद्ध था। उसने

लिखा है कि जानवरों पर निशान डलवा कर उन्हें रजिस्टर में लिखाने का प्रबन्ध किया जाय। पालतू पशुओं को व्याध, शिकारी, चोर, सांप तथा हिंसक जंतुओं से सुरक्षित जंगलों में चरने के लिये भेजा जाय। उनके गले में घंटी बांधी जाय, जिससे हिंसक पशु आदि उसकी आवाज सुनें तो उनकी हानि न करें। उन्हें खूब साफ और यथासम्भव सजा कर रखा जाय। निश्शुल्क चरागाहों आदि के लिये ग्राम पंचायत या राज्य की ओर से समुचित व्यवस्था रहे। * जानवरों को पुष्ट रखने के लिये घास, भूसा, खल, नमक, तेल, दाना, दूध, अदरक आदि तक की व्यवस्था की जाय। इस प्रसंग में आचार्य ने कुछ पशुओं को शोरबा तक देने की सिफारिश की है। उसका आदेश है कि राज्य की ओर से गावों में उत्तम सांड छोड़े जांय, जो खेत आदि का नुकसान करने पर भी पकड़े न जांय। स्मरण रहे कि खेतों की हानि होने से अंशतः राज्य की भी हानि होती थी क्योंकि राज्य को उपज का भाग मिलता था। परन्तु कौटल्य पशुओं की उन्नति की व्यवस्था करने में इस हानि को भी सहन करता है।

आचार्य कौटल्य मांस आदि के लिये पशुओं के मारने के सम्बन्ध में कठोर नियमों का विधान करता है। वह आक्रमण न करने वाले मछली तथा पक्षियों और मृगों तक के वध और

* आजकल चरागाहों की समुचित व्यवस्था न रहने से पशु पालन बहुत कठिन तथा व्यय साध्य होगया है।

बन्धन को निन्दित ठहराता है। उसने विशेषतया गाय बैल और बछड़ों को न मारने का आदेश किया है। इन के साथ निर्दयता का व्यवहार करने को भी वह दंडनीय ठहराता है। उसका मत है कि केवल अपने आप मरे हुये पशु का चमड़ा, चर्बी, आंत, खुर, सींग, हड्डी आदि काम में लाये जांय। इन चीजों के लिये पशु साधारणतया बूचरखाने में न मारे जांय। कौटल्य ने बहुत से पक्षियों को भी मांसाहारियों या शिकारियों से बचने के लिये नियम बनाये हैं।

अर्थशास्त्र में अन्यप्रकार के चिकित्सकों की भांति पशु चिकित्सकों का भी उल्लेख मिलता है। कौटल्य ने कहा है कि अश्व चिकित्सक इस बात का ख्याल रखें कि घोड़े कमजोर न होने पावें। आचार्य ने गाय बैल हाथी आदि अन्य पशुओं की भी चिकित्सा का विचार किया है।

स्मरण रहे कि उस समय गाय और हाथियों का इस समय की अपेक्षा कहीं अधिक महत्व था। आजकल बैल अधिकतर खेती के ही काम में आते हैं। सवारी के लिये बैल गाड़ियों का चलन बहुत कम होगया है, लोग घोड़े वाले इक्के, तांगे, साइकल और मोटर आदि का उपयोग करने लगे हैं, बड़े बड़े नगरों में ट्रामवे का प्रचार बढ़ता जारहा है। लम्बे फासलों के लिये रेल गाड़ी है। उस समय यह सब काम भी प्रायः बैलों से लिया जाता था। इसके अतिरिक्त अब माल ढोने के लिये मोटर और रेल जो काम कर रही है, वह भी उस समय बैल ही करते थे।

इसप्रकार अच्छे बैलों की आवश्यकता उस समय कहीं अधिक थी, और दूध दही आदि के अतिरिक्त उनके लिये गो-पालन की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। यद्यपि इस समय भी गौओं के प्रति अनेक भारतीयों की पूज्य बुद्धि बनी हुई है, पर व्यवहार में पहले के समान गो-वंश की वृद्धि या रक्षा नहीं होती।

हाथियों की ओर उस समय विशेष ध्यान दिये जाने का कारण उनका सेना में काम आना था। इस समय में हाथियों का सेना में प्रायः कुछ भी उपयोग नहीं होता, उस समय वह चतुरंगिनी सेना के एक खास अंग होते थे।

कुएं तालाब नहर आदि—कृषि की सिंचाई के कृत्रिम साधनों में कुंए, तालाब, नहर, बांध आदि मुख्य हैं। ये राष्ट्रीय पूंजो के अंग हैं, अधिकांश कुएं तथा कुछ तालाब तो प्रायः व्यक्तिगत पूंजी भी होते हैं। अब हम इन के सम्बन्ध में कौटल्य के विचार बतलाते हैं।

अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि उस समय सिंचाई चार प्रकार से होती थी, (१) हाथ के द्वारा, तालाब आदि से पानी ढोकर, या मशक अथवा ढेंकली आदि से, (२) कंधों से पानी देकर,* (३) छोटी नहर या नाली आदि द्वारा, (४) नदी, नहर, तालाब, कुंए, झील आदि द्वारा।

---

*अर्थशास्त्र का मूल पाठ है 'स्कन्ध प्रावर्त्तिमम्।' कुछ लेखकों ने इसका अर्थ 'कंधों पर ढोकर बंहगी द्वारा पानी देना किया है। परन्तु

उस समय लोग कुएं तालाब आदि अपने भी बनवाते थे, और राज्य द्वारा भी इनके बनाये जाने का प्रबन्ध होता था। कभी कभी खेतिहर इन्हें सरकारी सहायता से बनाते थे। धनवान लोग धर्म या दान की दृष्टि से भी इन्हें बनवाते रहते थे। पानी जमा करने के वास्ते सेतु या बांध भी बांधे जाते थे*। जलाशयों की रक्षा और सार्वजनिक उपयोग के सम्बन्ध में आचार्य ने यथेष्ट विचार किया है। उसका मत है कि राज्य सिंचाई सम्बन्धी कार्य स्वयं करने के अतिरिक्त, किसानों को भी इसके लिये आवश्यक सहायता और प्रोत्साहन देता रहे। अन्यान्य बातों में वह लिखता है कि यदि कोई पुरुष नये तालाब और

हमें रहट, चरस आदि द्वारा पानी बैलों के कंधों की सहायता से पानी निकालने और उससे सिंचाई करने का अर्थ अधिक युक्ति युक्त और देशकालानुसार जान पड़ता है, जैसा कि श्री० सत्यकेतु जी ने किया है।

* गिरिनार (काठियावाड़) के इस सम्बन्ध में एक शिलालेख से मालूम होता है कि उस समय जलाशय किस ढंग के होते थे। उक्त शिलालेख सन् १५० ई० के लगभग वहां के तत्कालीन शासक रुद्रदाम ने अशोक के एक स्तम्भ पर खुदवाया था। इस में लिखा है कि चन्द्रगुप्त के समय में, पश्चिमी प्रान्तों के शासक पुष्यगुप्त नामक वैश्य ने नगर और पहाड़ी के मध्य में जलस्रोत का बंध बांध कर सिंचाई के लिये विशाल तड़ाग बनवाया। यह स्थान मौर्य राजधानी पाटलीपुत्र से एक हजार मील से कम दूर नहीं है। इससे अनुमान किया जासकता है कि राजधानी से इतने फासले के स्थान भी राज्य की ओर से की जाने वाली सिंचाई की सुविधा से बंचित न थे।

सेतु-बन्ध बनवाये तो उससे होने वाली उपज की वृद्धि पर पांच वर्ष तक सरकारी कर न लिया जाय। यदि टूटे फूटे तालाब या सेतुबन्ध को ठीक करवाये तो चार वर्ष, और यदि बने हुए के ऊपर और बनवाये तो तीन वर्ष तक उक्त प्रकार का कर न लिया जाय।

पूंजी सम्बन्धी अन्य विचार—कौटल्य कुछ नियमों के साथ खान खोदने का अधिकार प्रजा को भी दिये जाने की व्यवस्था करके सर्व साधारण की पूँजी बढ़ाने में सहायता करता है। उसने सहकारी समितियों के संचालन सम्बन्धी नियमों की रचना की है। नहर, पुल, सड़क, बन्दरगाह आदि व्यापार और उपज की सहायक बातों पर यथेष्ट ध्यान दिया है। और ऐसा करते हुए उसने राज्य की समृद्धि के साथ प्रजा की पूँजी की वृद्धि का यथेष्ट विचार रखा है। पूंजी के विनाश का एक प्रधान कारण बेकारी होती है कौटल्य ने गृह-शिल्प, राजकीय कारखानों और औद्योगिक धंधों की उन्नति करके, तथा आलसियों, भीखमंगों या मुफ्तखोरों को दंडनीय ठहरा कर इसका समुचित नियंत्रण किया है।

स्थिर पूंजी और बेकारी—क्या कौटल्य ने पूँजी सम्बन्धी एक विकट समस्या, मशीनरी अर्थात् स्थिर पूंजी के सम्बन्ध में भी कुछ विचार किया है? आजकल औद्योगिक संसार में स्थिर पूँजी की वृद्धि की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। पूंजी के उस अंश

में किफायत करने के लिये, जो मज़दूरों को वेतन में दी जाती है, इस बात के नये नये प्रयोग किये जा रहे हैं कि जो काम मज़दूरों द्वारा होता है, उसे मशीनों द्वारा कराया जाय। इसीप्रकार जिस काम के लिये सौ आदमियों की जरूरत होती है, उसे केवल बीस, अथवा इससे भी कम कर सकें, इसके वास्ते तरह तरह के आविष्कार किये जाते हैं। नित्य नयी मशीनें तथा कल पुर्जे इस बात को लक्ष्य में रखकर बनाये जाते हैं कि काम कम समय में, और कम आदमियों के श्रम से हो सके। इसका परिणाम यह हुआ है, कि संसार के बहुत से देशों में कितनी ही चीज़ें इतनी मात्रा में तैयार होजाती हैं कि उनकी उन देशों में तो खपत होती ही नहीं, उनके वास्ते अन्य देशों में बाजार तलाश किया जाता है, और ऐसा करने से भिन्न भिन्न औद्योगिक देशों का आपस में खूब संघर्ष होता है। बहुतों का माल गोदामों में आवश्यकता से अधिक पड़ा रह कर खराब होता है। कितने ही कारखाने वाले हारकर कुछ निर्धारित समय के लिये, और आखिर अनिश्चित समय के लिये कारखाना बन्द कर देने पर बाध्य हो जाते हैं। इससे एक एक देश में हजारों ही नहीं, कई लाख मज़दूर बेकार होजाते हैं। कौटल्य के समय में यह बेकारी-वर्धक पूंजीवाद नहीं था, और न आचार्य ने अर्थशास्त्र में इसके लिये प्रेरणा ही की है।

पूंजी की वृद्धि और-देश रक्षा—कौटल्य ने पूंजी की वृद्धि का यथेष्ट चिन्तन किया है। इसकेलिये उसने प्रजा को

सुखी और संतुष्ट रखने के विषय में भी सम्यग् विचार किया है। वह उसे राज्य की कठोर नीति या उद्वेगजनक कार्यों द्वारा अशान्त होने देना नहीं चाहता। इसलिये वह अर्थशास्त्र में स्थान स्थान पर राजा द्वारा प्रजा का पुत्रवत पालन किये जाने का विधान करता है।

यह तो हुई भीतरी शान्ति की बात। अब रही बाहरी रक्षा की बात। आचार्य इस देश को विदेशियों के आक्रमण के भय से मुक्त करने के लिये, सैनिक शिक्षा को अनिवार्य किये बिना ही प्राचीन वर्ण धर्म की व्यवस्था से लाभ उठाकर, एवं उसमें कुछ सुधार करके देश रक्षा के यथेष्ट साधन कर लेता है। जिसका परिचय पुस्तक के पढ़ने से मिलेगा।

इसप्रकार देश की भीतरी तथा बाहरी शान्ति और रक्षा की व्यवस्था करते हुए, आचार्य ने जनता की, तथा राष्ट्रीय पूँजी की रक्षा और वृद्धि का समुचित विचार किया है।

विदेशी पूंजी—अपनी पूँजी काफी न होने की दशा में विदेशी पूंजी से भी धनोत्पादन करना लाभकारी होता है, परन्तु यह तभी उचित है जब विदेशी पूंजी के कारण देश में विदेशियों का प्रभाव विशेष न होने पावे। इसीलिये यद्यपि कौटल्य को, राज्य का प्रजा के व्यापार आदि में बाधक होना पसन्द नहीं था, तथापि वह देश में विदेशी पूंजी लगाये जाने की अपेक्षा विदेशी वस्तुओं को बाहर से मंगाकर बेचने के

काम को अधिक प्रोत्साहन देने के पक्ष में था*। अर्थशास्त्र में कम्बोज (काबुल) के लोगों के व्यापार संघों का उल्लेख है, किन्तु ऐसा संघ विदेशी पूंजी से चलने वाला नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह स्थान राजनैतिक दृष्टि से उस समय भारतवर्ष का ही अंग था।

—:०:—

* भारतवर्ष को उस समय विदेशी पूंजी की आवश्यकता भी नहीं थी। वह यथेष्ट सम्पन्न था, विदेशियों को यहां आकर अपनी पूंजी के बल पर भारत वासियों से प्रतिद्वन्दिता करने का साहस नहीं होता था। सम्भव है कुछ अंश में सामाजिक और धार्मिक मत भेद भी उन्हें भारतीय श्रम को उपयोग में लाने से रोकता हो।

सातवां परिच्छेद

व्यवस्था

प्राक्कथन—यद्यपि कौटल्य के समय में आज कल की तरह बड़े बड़े कल कारखाने और बड़ी मात्रा की उत्पत्ति न होने से व्यवस्था को विशेष महत्त्व नही दिया जाता था, तथापि भिन्न भिन्न उत्पादन कार्यों को आरम्भ करने और जारी रखने, उनके पारस्परिक संघर्ष को रोकने तथा व्यवसायियों और श्रमियों आदि की विविधि कठिनाइयें और असुविधाओं को दूर करने आदि के लिये व्यवस्था की आवश्यकता तो होती ही थी।

थोड़ी पूंजी से भी व्यवसाय कर सकने के लिये सहकारी समितियें या संघों आदि की रचना करना, उस के संचालन के नियम बनाना, कारीगरों और धनपतियों को आर्थिक क्षेत्र में आने के लिये उत्साहित करना। उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं का सूक्ष्म रूप से अध्ययन करना और उनकी सरल व्यवहारोपयोगी योजना करना आदि बातें व्यवस्था के अन्तर्गत हैं।

सहकारी समितियां और संघ—प्राचीन समय में बड़े बड़े कल कारखाने नहीं थे। बड़ी बड़ी पूंजी एक ही स्थान में न लगाये जाने के कारण उस समय बड़ी मात्रा की उत्पत्ति भी विशेष नहीं

थी। तथापि भारतीय अर्थशास्त्रियों का सहकारिता की उपयोगिता का यथेष्ट ज्ञान था। आचार्य ने अर्थशास्त्र में सहकारी समितियों और संघों का उल्लेख किया है। उसने इन संस्थाओं के गुणदोषों का विचार किया है और इन के मुकद्मों के फैसला करने के नियम बनाये हैं।

अर्थशास्त्र में कईप्रकार के व्यवसायी संघों या श्रेणियों का उल्लेख किया गया है *।

यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इन श्रेणियों के भेद किस दृष्टि से किये गये थे, सम्भव है कि एक श्रेणी, कई कई प्रकार के काम करती हो और उन कामों को संख्या के अनुसार उन के नाम एक श्रेणी, द्विश्रेणी, चतुश्रेणी, अष्ट श्रेणी, द्वादश श्रेणी, शोडश श्रेणी आदि प्रसिद्ध हुए हों। यह अनुमान होता है कि आजकल भिन्न भिन्न पेशा करने वाले समूहों के जो चौधरी होते हैं, वे प्राचीन संघों के अधिपतियों के अवशेष रूप हैं। अस्तु यह निर्विवाद है कि पहले इन श्रेणियों का आधार केवल आर्थिक था, सामाजिक दृष्टि से इन में कोई पृथकता नहीं थी। कौटल्य ने इन के तीन भेद किये हैं, वर्षक (किसान) वैदेहक (व्यापारी) और याजक (पुरोहित, वैद्य आदि) विविध कारीगरों, कर्मकरों और महाजनों का समावेश इन्ही में समझा गया होगा।

---

* कौटिल्य ने श्रेणी शब्द का प्रयोग सैनिक अर्थ में (कौ० अ० ७ । १४) तथा विविध राजनैतिक संघों के अर्थ में (कौ० अ० ११ । १) भी किया है।

अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि उक्त संस्थायें अपने निजी झगड़े स्वयं ही निपटा लिया करती थीं। इनकी शक्ति पर्याप्त होती थी। किसी व्यक्ति को अपना काम कराने के लिये संघ के मुखिया से बातचीत करनी पड़ती थी। इसप्रकार श्रमी और व्यवसायी लोग राज्य के प्रत्यक्ष नियंत्रण से बहुत कुछ मुक्त रहते थे। जो व्यक्ति पूंजी नही लगा सकते थे वे अपने श्रम को सम्पत्ति की तरह प्रयोग करके संघ के सदस्य बन सकते थे। बीमारी आदि आपत्ति के समय ये संघ अपने सदस्यों की रक्षा करते थे।

राज्य के कारखाने—कौटल्य राज्य को व्यवसायिक संस्था का रूप भी प्रदान करता है। उस का मत है कि राजा अपनी पूंजी लगा कर तरह तरह के कारखाने खोले, जिससे देश के कारीगरों और मज़दूरों के श्रम का अत्युत्तम उपयोग हो। इन कारखानों की व्यवस्था के नियम उसने इस दृष्टि से बनाये हैं कि उनकी प्रजा के कारखानों से प्रतिद्वन्दिता होने पर प्रजा की हानि की सम्भावना न हो। दोनों प्रकार के कारखानों को स्वतंत्र मज़दूरी पर श्रम कराने का अधिकार हो। दोनो ही अच्छा माल तैयार करके एक नियत मुनाफे पर बाज़ार में बेंच सकें। दोनों समान रूप से राजकीय नियमों का पालन करें और राजकर दें। कोई प्रतिज्ञावद्ध नौकरों के द्वारा अथवा बेगार में श्रम न लेवे। दोनों में से चाहे जिसका माल चोर आदि के द्वारा नष्ट हो सम्बन्धित अधिकारी उसका मूल्य दिलावे। दोनो में शागिर्दों अर्थात नौसिखिये व्यक्तियों को काम सीखने की व्यवस्था रहे।

ऐसे कारखानों से देश को निम्न लिखित लाभ होते हैं:—

(क) राष्ट्रीय पूंजी और उत्पादन शक्ति व्यर्थ नहीं पड़ी रहती।

(ख) खरीदने वालों को सदैव नियत मूल्य पर अच्छा माल मिल सकता है, उन्हें माल की परीक्षा करने और मूल्य ठहराने के झंझट में पड़ने की जरूरत नहीं होती।

(ग) देश की अधिकांश आवश्यकतायें पूरी होजाती हैं और अधिक माल तैयार होने से विदेशों से व्यापार बढ़ाने का अवसर मिलता है।

यह पद्धति सर्वांश में लाभप्रद ही हो या इसका दुरुपयोग न होसकता हो यह बात नहीं है। स्वभावतः ही साधारण व्यवसायी और श्रमी, राज्य द्वारा संचालित कारखानों का मुकाबला नहीं कर सकते। राज्य द्वारा बनी वस्तुओं की खपत के वास्ते, प्रधान अवसर, राज्य की आवश्यकताओं के रूप में उपस्थित रहता है। तथापि प्रजा हितैषी स्वराज्य में, सब बातों का विचार करने पर आचार्य की व्यवस्था लाभकारी ही प्रतीत होती है।

श्रमियों और पूंजीपतियों का पारस्परिक सम्बन्ध-- कौटल्य ने श्रमियों और पूंजीपतियों का पारस्परिक सम्बन्ध अच्छा बनाये रखने के लिये अच्छे न्याययुक्त और सुन्दर नियम दिये हैं। वह दोनों को अपनी शर्तें खुले आम तय करने की

सलाह देता है परन्तु उस का मत है कि उन के मामले पंचों द्वारा तय किये जांय। श्रमियों के समय पर काम पूरा न करने की की दशा में वह उन्हें मोहलत देने की भी योजना करता है, बीमारी आदि की दशा में यह आवश्यक नहीं है कि इकरारनामे की शर्तें पूरी की जांय। संघ का कोई श्रमी सदस्य श्रम-सम्बन्धी नियम भंग करे तो उसे निर्धारित दंड से आधा दंड दिया जाय।

आचार्य ने ऐसे नियम दिये हैं जिन से ग्राम्य जीवन में सहकारिता का भाव बढ़े, और इस विषय में उदासीन रहने वालों को दंड मिले। इसी का यह परिणाम हुआ कि केन्द्रीय सरकार पर कालान्तर में विपत्तियां आने पर भी ग्राम्य जीवन की सुख समृद्धि बनी रही, सब उद्योग धंधे स्वतंत्रता पूर्वक चलते रहे।

—:o:—

आठवां परिच्छेद

खेती और व्यवसाय धन्धे

धनोत्पत्ति के विविध साधनों के सम्बन्ध में कौटल्य के विचारों का विवेचन किया जा चुका है। अब धनोत्पत्ति के दो मुख्य भेदों, खेती और व्यवसाय धन्धों की तत्कालीन स्थिति पर, आचार्य के विचारों का परिचय देते हुए प्रकाश डाला जायगा।

खेती

तत्कालीन यूनानी यात्रियों के वर्णन से ज्ञात होता है कि कौटल्य के समय में यहां कृषि कार्य करने वालों की दशा संतोषप्रद थी, वे सुखी और सम्पन्न थे। यहां वर्ष में दो फसलें होती थीं, सिंचाई का समुचित प्रबन्ध रहने से, और कृषकों की आवश्यकताओं और सुविधाओं की भरसक व्यवस्था रहने के कारण इन फसलों में खूब पैदावार होती थी।

कृषिजन्य वस्तुएं--अर्थशास्त्र में यहां उत्पन्न होने वाले जिन विविध पदार्थों के नाम मिलते हैं, उनमें से कुछ आगे दिये जाते हैं:—

धान्यवर्ग—(क) अनेक प्रकार के अन्न कोदों, लोभिया, भिन्न भिन्न प्रकार के धान, तिल, कांगनी आदि वे पदार्थ

जो वर्षा के आरम्भ में बोये जाते हैं। (ख) मूंग, उड़द, सेम आदि वे अन्न जो फली में से निकलते हैं और वर्षा के बीच में बोये जाते हैं। (ग) कुसूम, मसूर, कुलथी, जौ, गेहूं, मटर, अलसी, और सरसों आदि वे चीजें जो वर्षा के अन्त में बोयी जाती हैं।

फलाम्ल वर्ग—इमली, अम्ल वेद, करौंदा, आम, अनार, खट्टा नीम्बू, चकोतरा, पेवन्दी बेर, झाड़ी का बेर, उन्नाव, फालसा आदि।

कटुक वर्ग—पीपल, मिर्च, अदरक, जीरा, चिरायता, सरसों, धनियां, मेनफल, मरुआ, सेजना आदि।

शाक वर्ग—कन्द (सकरकन्द, जमीकन्द, आदि) मूल (मूली गाजर आदि), फल, शाक (बथुआ, मेथी आदि)।

कौटल्य का कथन है कि नदी आदि के किनारे का स्थान पेठा, कद्दू, ककड़ी, तरबूज आदि बोने के लिये उपयुक्त होता है। पीपल, अंगूर, ईख आदि बोने के लिए वह प्रदेश अच्छा होता है जहां पर नदी का जल एक बार होगया हो। शाक, मूल आदि बोने के लिये कुएं से सींची जाने वाली भूमि, जई आदि हरी चीजें बोने के लिये झील तालाब आदि के किनारे के गीले स्थान, गन्ध (गुलाब चमेली) भैषज्य (औषधि, धनियां, सौंफ आदि) उशीर (खस) पिंडालुक (कचालू या शकरकन्द आदि) के बोने के लिये वे खेत जिन के बीच में तालाब बने हों, उपयुक्त होते हैं। यद्यपि यह सूची पूरी नहीं है, संकेत

से काम लिया गया है, परन्तु इससे तत्कालीन कृषि-जन्य पदार्थों का अच्छा अनुमान होसकता है। इससे यह भलीभांति सिद्ध होजाता है कि भारतवर्ष में खेती का कार्य अब से सवा दो हजार वर्ष पहले भी लगभग उस अवस्था को पहुँच चुका था, जिस अवस्था में अब यह कार्य यहां पर है। इस समय जो अन्न आदि विविध पदार्थ यहां उत्पन्न होते हैं, प्रायः वे सब उस समय भी यहां होते थे। और यह बात बहुत महत्व की है, कारण कि आधुनिक काल में जो देश उन्नत माने जाते हैं, उनकी कृषि की उन्नति का इतिहास अपेक्षाकृत बहुत थोड़े समय का है। संसार में इने गिने देश ही ऐसे हैं जो उस प्राचीन काल में इतने पदार्थों को उत्पन्न करने में समर्थ हुए हों, जितने भारतवर्ष कौटल्य कालमें (तथा उससे भी पूर्व) कर रहा था।

फसल के लिये भूमि और जल आदि—भिन्न भिन्न पदार्थों के बोने के सम्बन्ध में आचार्य ने संक्षेप से सिद्धान्त की बात बतला दी है। वह कहता है कि खेती के अनुसार, जल की न्यूनाधिकता को देख कर ही खेतों में बोये जाने वाले हेमन्त (शीत) ऋतु के (गेहूँ जौ आदि) और ग्रीष्म ऋतु के (कपास तथा ज्वार आदि) पदार्थों को बुवावे। अर्थात् ऋतु के अनुसार, तथा जल के सुभीते के अनुसार ही खेतों में बीज डाला जाय। इसीप्रकार वह बतलाता है कि सूखी जमीनों में तथा जनमय प्रदेशों में होनेवाले अनाज आदि पदार्थों को उन योग्य प्रदेशों में ही बोया जाय। अर्थात् जो चीजें जैसी भूमि

में पैदा हो सकती हों, उनको वैसे ही स्थानों में बोना चाहिये।

अन्य आवश्यक बातें--खेती के लिये भूमि की उपयोगिता बढ़ाने के लिये कौटल्य इस बात पर जोर देता है कि उसमें खूब अच्छी तरह हल चलाया जाना चाहिये। उसे क्यारियों में विभक्त करना चाहिये।

भूमि से पूरा लाभ उठाने के लिये आचार्य ने कितनी ही बातें जानना आवश्यक बतलायी हैं, जैसे कृषि शास्त्र, भू-माप विद्या, धातु विज्ञान, वृक्षायुर्वेद (पेड़ों की बीमारियों की पहचान और इलाज), वैज्ञानिक खाद से उपज बढ़ाना, बीज की छांट और उसे अन्य वस्तुओं से संस्कृत करके अधिक उपजाऊ बनाना (उदाहरणवत ईख के बीज को कटी हुई जगह में घी या शहद के साथ गोबर लगाना) इत्यादि। आचार्य ने यह सम्मति दी है कि जो खेती करने वाले इन विद्याओं को न जानते हों, वे इन विषयों के विशेषज्ञों से सलाह लें।

आचार्य ने उन बातों पर भी विस्तार पूर्वक विचार किया है जो मनुष्यों के अधीन न होने पर भी, जिनके अनुभव से न्यूनाधिक लाभ उठाया जा सकता है। जैसे ऋतुओं के भागों की जानकारी, वर्षा होने के समय का अनुमान, वर्षा के न्यूनाधिक का अनुमान, फसल को ऋतु के अत्यय से बचाना, उसकी, बीमारी तथा चूहे, सांप, टीडी, तोते, कीड़ी आदि से रक्षा करना, फसलों का क्रम निश्चय करके उपज बढ़ाना, आदि।

कौटल्य ने स्वभावतः उन फसलों के बोने पर जोर दिया है जो थोड़े परिश्रम से अधिक फल देती हैं। इस दृष्टि से वह लिखता है कि धान गेहूं आदि सर्वोत्तम फसलें हैं, शाक तरकारी मध्यम हैं। आचार्य के मत से ईख सब से ओछी फसल है, इसके बोने और काटने आदि में बहुत श्रम और व्यय होता है, तथा इसमें चूहे और कीड़ों से बड़ी हानि की सम्भावना रहती है।

खेती की उन्नत दशा--कौटल्य जैसे आचार्यों की शिक्षा का ही यह फल था कि उस समय यहां खेती इतनी उच्च दशा में थी कि मेगस्थनीज़ * जैसे सुप्रसिद्ध यात्री ने भारतवर्ष में शहद और ऊन के पेड़ देख कर आश्चर्य किया था। ये शहद और ऊन के पेड़ हमारे चिरपरिचित ईख और कपास के पेड़ थे जो यूनान जैसे सभ्य और उन्नत देश में भी उस समय तक कभी देखे या सुने नहीं गये थे। मेगस्थनीज तथा अन्य यात्रियों के वृत्तान्त इस बात की साक्षी हैं कि यहां उस समय अकाल नहीं पड़ता था और खाने पहनने की वस्तुएं मंहगी नहीं होती थीं।

---

* मेगस्थनीज सबसे पहला राजनैतिक यात्री है, जिसका लिखा वर्णन भारतवर्ष के इतिहास में प्राप्त होता है। यह स्वयं चन्द्रगुप्त के दरबार में अपने स्वामी सेल्यूकस की तरफ से लगभग पांच वर्ष तक रहा है। उसी बीच में इसने यहां का आखों देखा हाल लिखा है। इसके लेख का बहुत सा भाग नष्ट होगया है। इसका वर्णन ऐसा प्रामाणिक माना जाता है कि यूनानी और रोम के इतिहास लेखकों ने उस के उदाहरण दिये हैं और इसके आधार पर भारतवर्ष का इतिहास भी लिखा है।

सर्व साधारण आर्थिक (एवं अन्य) दृष्टि से बहुत उत्तम और संतोष-प्रद जीवन व्यतीत करते थे। मेगस्थनीज का कृषि सम्बन्धी निम्न लिखित उद्धरण विचारणीय है। "भारतवासियों में ऐसी बहुत सी रीतियां हैं जो उनके बीच अकाल पड़ने की सम्भावना को रोकने में सहायता देती हैं। दूसरी जातियों में युद्ध के समय भूमि को नष्ट करने और इसप्रकार उसे परती रखने या ऊसर कर डालने की चाल है, पर इसके विरुद्ध भारतवासियों में-जो कृषक समाज को पवित्र और अवध्य मानते हैं-भूमि जोतने वाले, चाहे उनके पड़ोस में युद्ध हो रहा हो, किसी प्रकार के भय की आशंका से विचलित नहीं होते। दोनों पक्ष के लड़ने वाले युद्ध के समय एक दूसरे का संहार करते हैं, परन्तु जो खेती में लगे होते हैं, उन्हें सर्वथा निर्विघ्न रहने देते हैं। इसके अतिरिक्त न तो वे शत्रु के देश का अग्नि से सत्यानाश करते हैं, और न उसके पेड़ काटते हैं।" जिस कृषि कार्य के करने वाले पवित्र और अवध्य माने जावें उसकी उन्नति क्यों न हो। भारतवर्ष की यह अब से सवा दो हजार वर्ष पहले की बात, आजकल के सभ्य देशों के लिए भी शिक्षाप्रद है।

व्यवसाय धंधे

खेती के सम्बन्ध में कौटल्य के विचारों का विवेचन कर चुकने पर, अब हम उद्योग धन्धों का विषय लेते हैं। विदित हो कि तत्कालीन भारत में, खेती की तरह इनकी भी काफी उन्नति हो चुकी थी। मेगस्थनीज लिखता है कि भारतवासी कला

कौशल में भी बड़े निपुण पाये जाते हैं। और अधिक सुसभ्य भारतीय समाजों में भिन्न भिन्न प्रकार के बहुत से व्यवसायों में जीवन बिताया जाता है। यहां मुख्य मुख्य व्यवसाय-धंधों के विषय में कुछ ब्यौरेवार बातें बतलायी जाती हैं।

वस्त्र का व्यवसाय—व्यवसाय धन्धों में वस्त्र का व्यवसाय मुख्य है। सभी आदमियों को कपड़े की जरूरत होती है। जिन देशों में अपने यहां काफी वस्त्र नहीं बनता, उन्हें विदेशों से मंगाना पड़ता है। अथवा वहां के आदमी आधे नंगे रहकर गुजर करते हैं। कौटल्य के भारत में ऐसी कोई बात न थी, तब वस्त्र तैयार करने का व्यवसाय यहां अच्छी मात्रा में होना स्वतः सिद्ध बात है।

भारतवर्ष में रुई के अतिरिक्त रेशम, सन, ऊन, तथा जूट आदि अन्य कई प्रकार के रेशों के वस्त्र बनाये जाते थे। कौटल्य लिखता है कि राज्य की ओर से विधवा, विकलांग, कन्या, सन्यासिन, अपराधिन [किसी अपराध में प्राप्त हुए जुर्माने के दंड को काम करके भुगताने वाली], वेश्याओं की वृद्धा माता, बूढ़ी राज दासी और देवालयों से छूटी हुई बूढ़ी देवदासियों से उक्त वस्तुओं का सूत कतवाया जाय। सूत कातने की क्रिया उस समय बहुत सरल ही होगी। सम्भव है, आजकल जो चर्खा प्रचलित हैं, वही उस समय काम में लाये जाते हों। सूत से कपड़ा बुनने का काम जुलाहे अलग अलग भी करते थे, और इस काम के लिये कारखाने भी थे।

कपड़े किस किस प्रकार के बनते थे इस विषय में अर्थशास्त्र में अच्छा प्रकाश डाला गया है। ऊनी वस्त्रों के सम्बन्ध में लिखा है कि भेड़ की ऊन से बने हुये कपड़े प्रायः सफेद शुद्ध लाल और कुछ लाल रंग के होते हैं। ये बनावट के भेद से दस तरह के बताये गये हैं। भेड़ की ऊन के अतिरिक्त अन्य पशुओं के बालों से भी तरह तरह के वस्त्र बनाये जाते थे।

उत्पति-स्थान के भेद से अर्थशास्त्र में दुशालों के तीन भेद बताये गये हैं, बांगक, पौंड्रक और सौवर्ण कुटुयक। इनमें से वांगक अर्थात् बंगाल का बना हुआ सफेद तथा चिकना होता है। पौंड्र अर्थात् पुंड्र (ढाका राजशाही) का काला तथा मणि की तरह चिकना होता है। सौवर्ण कुटुयक अर्थात् आसाम और ब्रह्मा का बना हुआ सूर्य के समान चमकते हुए रंग का होता है। कौटल्य ने बतलाया है कि इन सब दुशालों की बनावट किस किस तरह की होती है, तथा इनमें कौनसा बहुमूल्य होता है और किसे घटिया समझना चाहिये।

सूती वस्त्रों के सम्बन्ध में कौटल्य लिखता है कि मधुरा (पांड्य प्रदेश) अपरान्तक (कोंकण प्रदेश), कलिंग, काशी बंगाल, वत्स (कौशाम्बी, या कौसम, प्रयाग के निकट) और मैसूर में बने हुए कपड़े सबसे उत्तम समझे जाते हैं। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि यहां उस समय वस्त्र व्यवसाय बहुत उन्नत दशा में था।

वस्त्र सम्बन्धी अन्य व्यवसाय—[क] कवच और

रस्सी। कौटल्य ने कपड़ा बुनने वालों के प्रसंग में सूत के कवच और रस्सी बनाने वालों का भी उल्लेख किया है। रस्सियां विशेषतया सूत, सन, बेंत, और बांस के रेशों की बनायी जाती थीं। रेशम की भी होती थीं। फर्श भी बनाये जाते थे।

[ख] कपड़ों की धुलाई और रंगायी। अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि उस समय यह काम भी काफी उन्नत अवस्था में था। उसमें इस बात की व्यवस्था की हुई है कि धोबियों को भिन्न २ प्रकार के वस्त्र कितने कितने समय में धोकर दे देने चाहिये और अधिक समय पड़े रखने अथवा फाड़ देने, बदल देने या किराये पर देने अथवा गिरवी रखने की दशा में उन पर कितना जुर्माना किया जाय। धोबी कपड़े धोने के अतिरिक्त रंगायी का काम भी किया करते थे। उस समय रंगने का काम बहुत उन्नत अवस्था को पहुँच गया था। रंग यहां वनस्पतियों से बनाये जाते थे। यहां के रंगों की स्थिरता तथा सौन्दर्य ने अच्छी ख्याति प्राप्त की थी। यूनानियों ने यहां की रंग की कला का उल्लेख किया है। खेद है कि विदेशी विशेषतया जर्मनी के सस्ते रासायनिक रंगों ने अब उसे नष्टप्राय कर दिया है।

(ग) सिलायी। लोगों के पहनने आदि के लिये भिन्न भिन्न प्रकार के कपड़ों की सिलायी होती थी। यद्यपि अधो-वस्त्र (धोती) और दुकूल (डुपट्टा) आदि बिना सिले कपड़ों का भी समाज में चलन था, अनेक गृहस्थी अच्छी पोशाक पहनते

थे। इस दशा में इस व्यवसाव को उन्नत अवस्था में होना ही चाहिये।

खनिज व्यवसाय—कौटल्य ने इस विषय का विस्तार पूर्वक वर्णन किया है। उस ने बतलाया है कि कहां किस चीज़ की खान है, यह जानने के लिये कच्ची धातु की, उस के भार, रंग, तेज, गंध, और स्वाद द्वारा परीक्षा की जानी चाहिये। पहाड़ों के गढों, गुफाओं, तराइयों तथा पथरीले स्थानों और बड़ी बड़ी शिलाओं से ढके हुए छेदों से जो नाना प्रकार के द्रव बह कर निकलते हैं, उन की जांच से यह जाना जा सकता है कि यहां किस वस्तु की खान होने की सम्भावना है। विविध कच्ची धातुओं को उनके शुद्ध रूप में परिवर्तित करने के कौटल्य ने अनेक उपाय बतलाये हैं। उसने यह भी लिखा है कि कोई खान पहले से प्रयुक्त हुई है या नहीं, यह किस तरह जानना चाहिये, तथा भिन्न भिन्न धातुओं की नरम और लचकदार बनाने की क्या विधि है। इसप्रकार खनिज द्रव्यों का पता लगाने, उन्हें निकालने, शुद्ध तथा उपयोगी बनाने के व्यवसाय में बहुत से आदमी लगे रहते थे। कौटल्य ने इस व्यवसाय की विशद विवेचना की है। इस से स्पष्ट है कि उस के समय में यहां वालों को धातु विद्या का भी यथेष्ट ज्ञान था।

नमक का व्यवसाय—कौटल्य ने विदेशी नमक पर साधारण कर के अतिरिक्त, उस के मूल्य का छठा हिस्सा राज-कर ठहराया है। इस से अनुमान होसकता है कि वह इस वस्तु के स्वदेशी व्यवसाय को बहुत प्रोत्साहित करता था और यहां अनेक

आदमी इस व्यवसाय में लगे होंगे ।

रत्नों का व्यवसाय—आचार्य ने अपने ग्रन्थ के एक सम्पूर्ण अध्याय में 'रत्नों की परीक्षा' का विस्तार पूर्वक विवेचन किया है । इस में मोती, मणि, हीरे आदि के मुख्य मुख्य भेद उनके उत्पत्ति स्थान, उन्हें निकालने, शुद्ध करने, और घटिया बढ़िया होने की परख करने के विविध नियम बतलाये हैं । इस से विदित होता है कि इन रत्नों का व्यवसाय उस समय बहुत बढ़ा चढ़ा था ।

सुनार का कार्य--आचार्य ने अर्थशास्त्र में तत्कालीन सुनारों की चालाकी का विस्तार पूर्वक उल्लेख किया है, और धातुओं को तपाने, गलाने, शुद्ध करने, आभूषण बनाने या सुधरवाने की विविध रीतियां, तथा हीरा, मणि, मोती, मूंगा आदि रत्नों को आभूषणों में जड़ने के नियम तथा उन के विषय में अन्य बहुत सी आवश्यक बातें बतलायी हैं। इससे प्रतीत होता है कि आभूषण सम्बन्धी व्यवसाय भी उस समय बहुत प्रचलित था ।

शराब का व्यवसाय--आचार्य ने शराब के कई भेद तथा उनके बनाने की विधियां बतलायी हैं और उन के बनाने बेचने और पीने के सम्बन्ध में कई प्रकार के बन्धन लगाये हैं । इससे विदित होता है कि यह व्यवसाय यहां बहुत उन्नत अवस्था में था और आचार्य को इस वस्तु के उपभोग को नियंत्रित करने

की बहुत आवश्यकता हुई थी।

नौका निर्माण और संचालन—भारतवासियों की प्राचीन नौका निर्म्माण तथा नौ-संचालन-विद्या अब स्वप्न सी होगई है। कौटल्य ने अर्थशास्त्र के नौकाध्यक्ष प्रकरण में अनेक प्रकार की छोटी और बड़ी नौकाओं और जहाजों का उल्लेख किया है*। इससे उस समय की इस विषय सम्बन्धी उन्नति का अच्छा प्रमाण मिलता है। अस्तु इसमें सन्देह नहीं कि उस समय में नाव और जहाज बनाने तथा चलाने की कला अच्छी विकसित थी।

मांस का व्यवसाय—कौटल्य ने कितने ही पशुओं को सर्वथा अवध्य ठहराया है, और खास खास दिन किसी भी पशु की हिंसा न किये जाने का आदेश किया है तथा मांस के व्यवसाय में और भी प्रतिबन्ध लगाये हैं। तथापि जान पड़ता है कि उस समय भी भारतवर्ष में यह व्यवसाय खासी मात्रा में था।

औषधियों का व्यवसाय—आचार्य लिखता है कि नगर के उत्तर पश्चिम भाग में औषध शाला बनाई जाय। वह औषधियों को इतनी बड़ी मात्रा में संग्रह करके रखने का आदेश करता है जो कई वर्ष तक समाप्त न हों। हां, उसका यह भी कथन है कि जो वस्तु पुरानी होजाय उसके स्थान पर नयी

---

*इनमें से कुछ की चर्चा अन्य व्यापार के मार्ग और साधन परिच्छेद में की गई है।

वस्तुओं को रखाजाय * । उसने अर्थशास्त्र में भिषक् (साधारण चिकित्सक) जांगलीविद् (विष चिकित्सक) गर्भ व्याधि संस्था [गर्भ सम्बन्धी बीमारियों का इलाज करने वाले] पशु चिकित्सक आदि कई प्रकार के चिकित्सकों का वर्णन किया है। यद्यपि सर्वसाधारण की चिकित्सा का प्रबन्ध राज्य की ओर से रहता था, तथापि स्वतंत्र वैद्य भी उस समय अच्छी संख्या में रहते होंगे। कौटल्य को उनपर नियंत्रण करने की आवश्यकता मालूम हुई और उसने इस सम्बन्ध में अपने नियम दिये हैं।

चमड़े का व्यवसाय—कौटल्य ने बतलाया है कि यहां अनेक प्रकार के बढ़िया और घटिया चमड़ों का उपयोग होता था। इनकी तरह तरह की चीजें बनती थीं। इसप्रकार यह व्यवसाय भी उन्नत अवस्था में था।

बर्तन बनाने का काम—अर्थशास्त्र से मालूम होता है कि धातुओं और मिट्टी के बर्तनों के अतिरिक्त यहाँ विदलमय [दो दल वाली लकड़ी के] पात्र भी होते थे, जो बेंत या बांस आदि की लकड़ियों से बनाये जाते थे, जैसे पिटारी टोकरी आदि।

जंगल सम्बन्धी व्यवसाय—कौटल्य के समय में जंगल की रक्षा और उन्नति की ओर बहुत ध्यान दिया जाता

---

* इस समय के उन्नत कहे जाने वाले भारतवर्ष में प्रति वर्ष लाखों रुपये की औषधियां विदेशों से आती हैं। कौटल्य का भारत इस विषय में सर्वथा स्वावलम्बी था।

था। जंगलों की पैदावार पहले [भूमि के परिच्छेद में] बतायी जाचुकी है। उसकी अनेक चीजें बनायी जाती थीं। इससे स्पष्ट है कि उस समय अनेक आदमी इस व्यवसाय में लगे रहते थे।

अस्त्र निर्म्माण—कौटल्य के समय में भारतवर्ष की सैनिक शक्ति बहुत बढ़ी हुई थी, उसके लिये यहां तरह तरह के अनेक अस्त्र तैयार कराये जाते थे। इन्हें बनाने तथा इनकी मरम्मत करने आदि में बहुत से कारीगर लगे रहते थे। इस प्रकार यह व्यवसाय यहां बहुत अच्छी अवस्था में था।

अन्य व्यवसाय—अन्य मुख्य व्यवसायों के विषय में विशेष न लिखकर उनके नाम मात्र देने से ही संतोष किया जाता है।

[क] लकड़ी चीरना या फाड़ना।

[ख] लकड़ी का सामान बनाना (बढ़ईगीरी)।

[ग] लुहारी (लोहे का साधारण कार्य अस्त्र निर्म्माण के अतिरिक्त)

[घ] निर्म्माण कार्य (उस समय बहुत से भवन और किले आदि पत्थर से बनते थे)।

[छ] मूर्ति बनाना (उस समय भी भिन्न भिन्न देवताओं की बहुत सी मूर्तियां बनायी जाती थीं।

इन व्यवसायों के अतिरिक्त बहुत से आदमी व्यापार, दूकानदारी, सेना, पुलिस आदि सरकारी नौकरी, तथा अध्यापकी या

लेखनकार्य आदि में लगे रहते थे। इसप्रकार यह कहा जा सकता है कि उस समय व्यवसाय धन्धों की कमी न थी और अनेक व्यवसाय बड़ी उन्नत अवस्था को पहुँचे हुए थे।

व्यवसाय धंधों का स्थानीय करण (Localisation)—अर्थशास्त्र से मालूम होता है कि उस समय व्यवसाय धंधों के स्थानीय करण की यथेष्ट प्रवृत्ति थी। आचार्य ने 'जनपद निवेश' प्रकरण में भिन्न भिन्न कार्य करने वालों के लिये पृथक भूमि दी जाने की व्यवस्था की है। उसने लिखा है 'राजा खनिज पदार्थों के बेचने के स्थान, द्रव्यवन, हस्तिवन, गाय आदि की रक्षा और वृद्धि के स्थान, व्यापार के स्थान, बाजार और मंडियां आदि बनवावे।' इसीप्रकार नगरों के भिन्न भिन्न भागों में उसने भिन्न भिन्न व्यवसाय धंधों के करने वालों के रहने की व्यवस्था की है। इससे स्पष्ट है कि व्यवसाय धंधों का कार्य यथेष्ट उन्नतावस्था को प्राप्त कर चुका था।

कौटल्य ने अर्थशास्त्र के चौथे अधिकरण के 'कारुक रक्षण' शीर्षक प्रथम अध्याय में इस बात का विचार किया है कि विविध प्रकार के शिल्पियों का सर्व साधारण से क्या सम्बन्ध रहे, उन्हें भिन्न भिन्न कार्यों के लिये कितना वेतन दिया जाय, तथा काम बिगड़ने की दशा में वे कहां तक दोषी माने जांय। इससे स्पष्ट है कि उस समय व्यवसाय धंधों का यथेष्ट महत्त्व था।

—:o:—

नवां परिच्छेद

मुद्रा

पिछले परिच्छेद में कौटल्य के धनोत्पत्ति सम्बन्धी विचार दिये जा चुके हैं। इस परिच्छेद में आचार्य के व्यापार सम्बन्धी विचार बतलाये जांयगे। अपनी आवश्यकता के अनुसार दूसरों की चीजें लेने, तथा बदले में अपने पास की [अधिक मात्रावाली या कम आवश्यक] वस्तुयें देने से ही मनुष्यों का काम चलता है। आधुनिक संसार में पदार्थों का अदल बदल (Barter) कम और क्रय विक्रय अधिक होता है। क्रय विक्रय के लिये पदार्थों की कीमत रुपये पैसे के रूप में निश्चित की जाती है। इसलिये पहले इस परिच्छेद में हम आचार्य के समय की मुद्रा सम्बन्धी बातों पर प्रकाश डालते हैं। विदित हो कि उसके समय में यहां मुद्रा का पर्याप्त चलन होगया था और आधुनिक उन्नत देशों की भांति यहां बड़े परिमाण में क्रय विक्रय और व्यापार, मुद्राओं के द्वारा ही होते थे।

आजकल मुद्रा का चलन इतना होगया है कि हमें यह सोचने का अवसर नहीं मिलता कि संसार के विविध भागों में कभी लोगों का काम बिना मुद्रा के चलता होगा। तथापि मुद्रा की आयु भारतवर्ष को छोड़कर अन्यत्र पौने तीन हजार

वर्ष से अधिक नहीं है*। हां, भारतवर्ष में इससे भी पूर्व सिक्का बनाने की उपयोगिता एवं पद्धति ज्ञात होचुकी थी, और क्योंकि इस पर ठप्पे की छाप होती थी, इसलिये सिक्के को मुद्रा कहने लगे थे।

कौटल्य के सिक्के, पण और मापक—अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि उस समय सर्वसाधारण में पण राज्य का प्रमाणित सिक्का माना जाता था। यह चांदी का होता था। इस का वजन सोलह माशे होता था। एक माशा ८८ सफेद सरसों का माना गया है। एक पण में चार माशे ताम्बा ग्यारह माशे चांदी और एक माशा लोहा, सीसा, रांग या सुरमा आदि कोई अन्य धातु (Alloy) होती थी। जिस प्रकार आजकल रुपये के चांदी के भाग अठन्नी, चवन्नी और दुवन्नी प्रचलित हैं, उसीप्रकार उससमय पण से छोटे सिक्के अर्द्धपण, आठमाशे के, पाद पण (चतुर्थांश पण) चार माशे के और अष्टभाग पण दो माशे के बनाये जाते थे। ये सिक्के विशेषत: चांदी के होते थे, इनमें भिन्न भिन्न धातुओं का परिमाण पण की तरह होता था। पण को 'रुप्य रुपम' भी कहा गया है।

चौथायी पण के सिक्के के मूल्य का एक ताम्बे का सिक्का बनाया जाता था, जिसका नाम 'माषक' होता था। यह तोल में

---

* विदेशी सिक्कों में सब से पुराना सिक्का लिडिया (आरमीनिया) का माना जाता है, जो अब से ढाई हजार वर्ष पूर्व का है।

पण के बराबर अर्थात् सोलह माशे का होता था। पण की तरह माषक के भाग अर्द्धमाषक, कांकणी (चतुर्थांश माषक) अर्द्ध कांकणी (अष्टमांश माषक) होते थे। ये सिक्के विशेषत: ताम्बे के होते थे। माषक को 'ताम्र रूपम्' भी कहा गया है।

इसप्रकार यद्यपि व्यवहार में तथा राज्य की ओर से चांदी और ताम्बे के सिक्कों में काम चलाया जाता था, किन्तु राजा के पारिक्षिक द्वारा सोने के बड़े टुकड़ों पर भी परीक्षा के चिन्ह लगवाकर उन्हें भी उपयोग में लाया जाता था। ऐसे टुकड़े 'विशुद्ध हिरण्यक' कहलाते थे।

मुद्रा ढलाई--अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि उससमय आदमी अपनी धातु लेजाकर राजकीय टकसाल में सिक्के ढलवा सकते थे एवं यदि वे चाहते तो स्वयं भो ढाल सकते थे। हां, इस दशा में उन्हें कुछ नियमों का पालन करना होता था। जो व्यक्ति अपनी धातु के सिक्के राजकीय टकसाल में ढलवाता था, उसे तीन प्रकार के शुल्क देने होते थे-

१—ढलाई की मजदूरी। इसे कौटल्य ने रूपिक कहा है। यह सौ पण पर आठ पण होती थी।

२--मूल्य स्थिर रखने का नफा नुकसान। इसे व्याजी कहा गया है। यह सौ पण पर पांच पण होती थी।

३-- मुद्रा के सच्चा प्रमाणित करने की शुल्क। इसे पारिक्षिक कहा गया है। यह सौ पण पर अष्टमांश पण होती थी।

इसप्रकार सरकारी टकसाल में मुद्रा ढलाई सम्बन्धी कुल व्यय १३ $\frac{1}{8}$ प्रति शत होता था।

यदि कोई व्यक्ति स्वयं कारखाने खोल कर मुद्रा ढालना चाहता तो वह ढाल सकता था। उसे रूपिक नहीं देना पड़ता था, और शायद कुछ दशाओं में व्याजी भी न देनी पड़ती हो (ऐसी दशाओं में आवश्यकतानुसार बट्टा देना जरूरी था) परन्तु बिना परीक्षा कराये और उस का पारिक्षिक शुल्क दिये कोई सिक्का नहीं चल सकता था।

मुद्रा सम्बन्धी शुल्क न देनेवालों तथा जाली या नकली सिक्का बनानेवालों के लिये कौटल्य राजा की ओर से समुचित दंड दिये जाने की व्यवस्था करता है *। इसप्रकार सिक्का ढालने में राज्य का एकाधिकार नहीं था, सर्वसाधारण भी आवश्यकतानुसार यह कार्य कर सकते थे, हां उन्हें निर्धारित नियमों का पालन करना और निश्चित शुल्क देना होता था।

हुंडियां—भारतवर्ष में व्यापारों में हुंडी पुर्जे का व्यवहार चिरकाल से रहा है। परन्तु कौटल्य ने इस विषय पर कुछ प्रकाश नहीं डाला है कि भुगतान करने के लिये सिक्कों के अतिरिक्त उस समय क्या क्या साधन थे तथा उन के सम्बन्ध में क्या क्या

---

* आचार्य के नियमों के अनुसार बने हुए सिक्कों के धात्विक मूल्य और बाज़ारी मूल्य में विशेष अन्तर न होने से लोगों को नकली सिक्के बनाने का विशेष प्रलोभन नहीं होता था।

नियम थे। उसने अर्थशास्त्र के औपनिधिक प्रकरण में 'आदेश' का उल्लेख किया है। 'अनेक विद्वानों की सम्मति में आदेश वर्तमान हुँडियों (Bills of exchange) के समान ही कीमत चुकाने का एक साधन था। शब्दार्थ की दृष्टि से किसी दूसरे व्यक्ति को अन्य किसी को कीमत चुकाने के लिए आज्ञा करने का नाम आदेश है ❀।'

---

* श्री सत्यकेतु विद्यालंकार।

दसवां परिच्छेद

कीमत

इस परिच्छेद के अगले परिच्छेदों में व्यापार के सम्बन्ध में आचार्य के विचारों पर प्रकाश डाला जायगा, उससे पूर्व उसके कीमत सम्बन्धी विचार जान लेना आवश्यक हैं। हम यहां मूल्य शब्द का व्यवहार न कर 'कीमत' का कर रहे हैं। इनका पारिभाषिक अन्तर समझ लेना चाहिये। जब किसी वस्तु के निर्धारित परिमाण के बदले में निर्दिष्ट परिमाण की दूसरी वस्तु ली जाती है तो यह उसका मूल्य (value) कहलाती है। और जब किसी वस्तु का मूल्य रुपये पैसे में निश्चित होता है तो अर्थशास्त्र में यह उसकी कीमत (Price) कही जाती है। पहले बताया जा चुका है कि कौटल्य के समय से भी पूर्व यहां मुद्रा का चलन था और पदार्थों का क्रय विक्रय रुपये पैसे में होता था।

कीमत निश्चित करने की नीति—इस विषय में पहली मुख्य बात जो पाठकों का ध्यान आकर्षित करती है, वह आचार्य की राज्य द्वारा कीमत निश्चित कराने की नीति है*।

---

* आजकल राज्य के लिये कीमत नियत करने का प्रश्न बहुत कठिन होता है, तथापि समय पर इसप्रकार का प्रयत्न कियाजाता है। पिछले

वह व्यापारियों को सन्देह की दृष्टि से देखता है। नीच प्रकृति वाले व्यापारी वस्तुओं का मूल्य बहुत अधिक बताकर ग्राहकों को धोखा दिया करते हैं। कौटल्य उनकी स्वार्थ पूर्ण प्रवृत्ति का विचार करके व्यापारियों और कारीगरों को 'चोर न कहे जाने वाले चोर' कहता है। उसका मत है कि इनसे [तथा नट, भिखारी, और ऐन्द्रजालिक अर्थात् बाजीगर आदि लोगों से] देश की रक्षा करनी चाहिये, जिससे कमजोर लोगों को पीड़ा न पहुँचे। इसलिये वह वस्तुओं की कीमत निश्चित की जाने का आदेश करता है।

निस्सन्देह ऐसी व्यवस्था उसी दशा में यथेष्ट व्यवहारिक होती है, जब लोगों की आवश्यकताओं और विक्रेय पदार्थों की संख्या परिमित हो, और आजकल के समय में इसका पूर्णतः पालन करना कठिन है। तथापि इससे मूल सिद्धान्त की महत्ता में कोई अन्तर नहीं आता। यदि व्यापारियों को इस बात की सख्त ताकीद हो कि वे प्रत्येक वस्तु की निर्धारित कीमत रखें तो व्यवसायिक संसार की कितनी बुराइयां दूर हो जांय। आजकल बाजार में बहुधा एक ही पदार्थ भिन्न भिन्न कीमत से बिकता है कोई रोक टोक नहीं होती। भोले-भाले ग्राहक तो बेहद ठगे ही जाते हैं। कभी कभी तो अच्छे अच्छे जानकार को भी भाव ताव करने के झंझट में बहुत अधिक फंसना पड़ता है। आचार्य

योरोपीय महायुद्ध के दिनों में बहुत से देशों की सरकारों ने खाद्य सामग्री और वस्त्र कीमत के नियंत्रण के नियम प्रचलित किये थे।

कौटल्य के सिद्धान्तों के अनुसार यह नहीं हो सकता था। अबोध बालक भी बाजार से चीज ले आता, और उसके ठगे जाने की आशंका न होती।

कीमत निश्चित करने के उपाय--कौटल्य का कथन है कि विक्री का माल बेचे जाने से पूर्व राज्याधिकारियों को दिखाया जाय, उनकी स्वीकृति के पश्चात् उसके घटिया बढ़िया होने (Quality) के अनुसार वर्गीकरण किया जाय और कीमत निश्चित की जाय। उसी कीमत के अनुसार व्यापार-कर या चुंगी ली जाय। व्यापारी पुरुष शुल्कशाला के आंगन में उपस्थित होकर पण्य के परिमाण और कीमत की आवाज लगावे, "इस माल का इतना परिमाण और कीमत है इसका कोई खरीदने वाला है ?" इसप्रकार उसके तीन बार आवाज देने पर जो व्यक्ति खरीदना चाहे उसे उतनी ही कीमत पर माल दिलवा दिया जाय।

यही नहीं, आचार्य का यह भी कथन है कि यदि खरीदने वालों में आपस में संघर्ष होजाय (अर्थात् खरीदार एक दूसरे से बढ़कर उस माल की कीमत लगाते जांय) तो उस माल की घोषित कीमत से जितनी अधिक आमदनी हो, वह शुल्क सहित राज-कोष में भेजदी जाय। इस नियम के होते हुए व्यापारी को अपना माल अधिक कीमत में बेचने से कोई लाभ नहीं रहता, फलतः वह ऐसा करने के लिये प्रयत्न भी नहीं करता।

मांग और पूर्त्ति—इसप्रकार आचार्य ने कीमत निर्धारित करने के ऐसे उपाय बतलाये हैं जो स्वाभाविक रूप से स्वयं व्यवहार में नहीं आते। साधारणतः किसी वस्तु की कीमत मांग और पूर्ति के नियम से निश्चित हुआ करती है। पूर्वोक्त उद्धरण में आचार्य केवल मांग के प्रभाव को स्वीकार करता है। 'पण्याध्यक्ष' प्रकरण में उसने लिखा है "बहुत से स्थानों से अर्थात् बहुत से व्यक्तियों के द्वारा बेचे जाने वाले राज-पण्य की, व्यापारी लोग कीमत निश्चय करके बेचें, अर्थात् नियत कीमत पर बेचें। यदि विक्रय होने पर कीमत में कुछ कमी होजाय तो उसके अनुसार ही व्यापारी लोग 'वैधरण' दें, अर्थात् उस सारी कमी को पूरा करें। यहां आचार्य कीमत में केवल पूर्ति के प्रभाव को मानता हुआ मालूम होता है। परन्तु वास्तव में कीमत को निश्चय करने में अकेली मांग या अकेली पूर्ति का ही प्रभाव नहीं पड़ता, वह दोनों के सामंजस्य पर निर्भर होती है।

उत्पादन व्यय—चीजों की कीमत की घट-बढ़ पर उत्पादन व्यय का भी बड़ा असर पड़ता है। साधारणतया किसी चीज के तैयार होने में जो खर्च पड़ता है, उसके आस-पास ही उसकी कीमत रहती है। कौटल्य ने कीमत के प्रसंग में उत्पादन व्यय का उल्लेख नहीं किया, हां उसके जो भूमि, श्रम, और पूँजी तथा व्यवस्था के प्रतिफल लगान, मजदूरी, सूद और मुनाफे का समावेश होता है, उनका आचार्य ने यथेष्ट वर्णन किया है। हम उसके इन विषयों सम्बन्धी विचार आगे यथास्थान देंगे।

एकाधिकार और कीमत—यद्यपि साधारण दशाओं में वस्तुओं की कीमत मांग और पूर्ति की समता से, उत्पादन व्यय के कुछ इधर उधर निश्चित हुआ करती है, तथापि इस सम्बन्ध में एकाधिकार या ठेके का विषय भी विचारणीय होता है। प्रायः एकाधिकारी किसी वस्तु की कीमत अधिक से अधिक ऊंची रखता है। परन्तु इस कीमत की भी एक सीमा होती है। वह सदैव यह चाहता है कि उसे अधिक से अधिक लाभ हो। इसलिये वह किसी चीज़ की कीमत को उसी सीमा तक बढ़ाता है, जहां तक वह इतनी मात्रा में बिक सके कि उसे अधिक से अधिक लाभ हो। इस सीमा के बाद वस्तु की कीमत बढ़ाने से बिक्री कम होजाने से उसे उतना लाभ नहीं होगा।

अर्थशास्त्र से मालूम होता है कि विदेशी वस्तुओं के बेचने की व्यवस्था भिन्न भिन्न स्थानों से होती थी, उसमें एकाधिकार कही जा सकने वाली बात नहीं थी। स्वदेशी वस्तुओं के सम्बन्ध में तो यह प्रश्न ही नहीं उठता था।

विशेष वक्तव्य--इस परिच्छेद में एक बात पर और विचार कर लें। अर्थशास्त्र के आधार पर आज यह कह सकना नितान्त कठिन है कौटल्य के समय में एक गाय कितने पण में आती थी, अथवा एक मन अन्न की कीमत क्या थी। तथापि आचार्य के विवेचन से धातुओं के पारस्परिक मूल्य जानने के लिये कुछ सुविधायें मिलती हैं। उदाहरणवत एक रजत पण

(ग्यारह माशे चांदी और एक माशा ताम्बा) का मूल्य सोलह ताम्र पण (१९२ माशे ताम्बा) था। इससे ज्ञात हुआ ११ माशे चांदी के बदले १९२ माशे ताम्बा मिल सकता था, अर्थात् चाँदी और ताम्बे के मूल्य का अनुपात $१७\frac{४}{११}:१$ था।

—:o—

ग्यारहवां परिच्छेद

व्यापार के मार्ग और साधन

व्यापार या तो स्थल मार्ग से होता है या जल मार्ग से। यद्यपि आजकल कुछ व्यापार-कार्य वायुयानों द्वारा होने लगा है और भविष्य में आकाश मार्ग के अधिकाधिक उपयोग किये जाने की सम्भावना प्रतीत होती है, तथापि अभी बहुत समय तक उपर्युक्त दो मार्गों की ही विशेषता रहने वाली है। यों तो कौटल्य ने कबूतरों द्वारा संदेश भेजने का उल्लेख करके आकाश मार्ग को भी स्मरण किया है किन्तु उसने व्यापार के लिये जल और स्थल मार्ग का ही विचार किया है।

जल और स्थल मार्गों की उपयोगिता की तुलना— आचार्य ने पहले इन मार्गों की उपयोगिता की तुलना करते हुए प्राचीन अर्थशास्त्रियों का यह मत दर्शाया है कि इन में से जल मार्ग श्रेयस्कर है, क्योंकि वह थोड़ा सा धन व्यय करने पर, थोड़े ही परिश्रम से तैयार किया जा सकता है, इस के अतिरिक्त इस मार्ग से माल भी बड़ी आसानी से लाया ले जाया जा सकता है। इसलिए इससे बहुत लाभ होने की सम्भावना है। परन्तु कौटल्य इस सिद्धान्त को नहीं मानता। उसका मत है कि जल मार्ग विपत्ति में सब ओर से रुक जाता है (जाड़ों में बर्फ जम

जाने के कारण, तथा गर्मी में सूख जाने से उस का उपयोग नहीं हो सकता)। स्थल मार्ग की अपेक्षा जलमार्ग अधिक भय-जनक है (डूबने आदि का डर रहता है) और भय उपस्थित होने पर उसका प्रतिकार भी नहीं किया जा सकता। परन्तु स्थल मार्ग में ये दोष नहीं होते हैं अतः उक्त दोनों मार्गों में उसे ही अच्छा समझा जाना चाहिये।

इस विवेचन के पश्चात् कौटल्य ने दोनों मार्गों के विषय में कुछ ब्यौरेवार बातें बतलायी हैं। पहले जल मार्ग का विचार करते हैं।

जल मार्गों के भेद और उपयोगिता--आचार्य लिखता है कि जलीय मार्ग दो प्रकार के होते हैं (१) जल के किनारे का मार्ग (२) जल के बीच में अर्थात् जल ही जल में जाने का मार्ग। इन दोनों मार्गों में से आचार्य के विचार से प्रथम मार्ग अच्छा होता है क्योंकि ऐसे मार्ग पर व्यापारी नगर तथा बन्दरगाह बहुत होते हैं और उनसे बहुत लाभ उठाया जा सकता है। आचार्य नदियों और नहरों के मार्ग को इसलिये उत्तम बतलाता है कि नदियों और नहरों की धारा निरंतर बनी रहती है और इस मार्ग में विशेष बाधायें उपस्थित नहीं होतीं। उसने लिखा है कि भारी भारी सामान नहर के द्वारा ही ढोये जाने चाहिये।

जल मार्ग से व्यापार करने के साधन--अर्थशास्त्र

से ज्ञात होता है कि उससमय नावों और जहाजों की बड़ी उन्नति हो चुकी थी व्यापार सम्बन्धी कुछ मुख्य मुख्य नाव और जहाज निम्न लिखित थे —

१—संयातीर्नाव—समुद्रों में चलने वाले बड़े जहाज। जब ये बन्दरगाह पर पहुंचते थे, इनसे शुल्क लिया जाता था।

२—महानाव—बड़ी बड़ी नदियों में चलने वाले छोटे जहाज। कौटल्य ने लिखा है कि पांच अधिकारियों से युक्त इन जहाजों को ही, गरमी और सरदी में एक रूप से बहने वाली गहरी और बहुत बड़ी नदियों में प्रयुक्त किया जाय।

४—क्षुद्रका—छोटी नौकायें। कौटल्य का कथन है कि केवल बरसात में बहने वाली (अर्थात् बरसाती) छोटी छोटी नदियों के लिये छोटी नावों का प्रबन्ध किया जाय।

५—स्वतरणानि—लोगों की अपनी अपनी नावें, जिनपर राज्य का कोई नियंत्रण नहीं होता था।

६—हिंस्रिका—सामुद्रिक डाकुओं के जहाज। इनसे व्यापारियों को बड़ी हानि होती थी। कौटल्य ने लिखा है कि सामुद्रिक डाकुओं के जहाज (या नाव) नष्ट कर दिये जांय।

जल व्यापार की रक्षा के नियम—आचार्य ने जहाजों, नौकाओं तथा इनके द्वारा होनेवाले व्यापार की सुरक्षा के लिये समुचित व्यवस्था की है। उसने मत्स्य बंध (मछली पकड़ने का शुल्क) क्लृप्त (बाहर माल भेजने का

शुल्क) नौघाटक (शंख, मोती आदि निकालने का शुल्क) आदि इसलिये नियत किये कि इनकी आय से राज्य, तूफान आदि से नष्ट होनेवाली नावों और जहाजों की रक्षा कर सके। उनके ठहरने के लिये "तीर्थ" अर्थात् बन्दरगाह बनाये जासकें। कौटल्य का मत है कि जल भर जाने के कारण जो माल खराब होजाय, उस पर शुल्क कम या माफ कर दिया जाय। जलीय मार्ग से होने वाले व्यापार सम्बन्धी किसी अधिकारी की असावधानी या अनुपस्थिति आदि के कारण या नाव की मरम्मत न होने की दशा में यदि नाव डूब जाय, या उसका माल गिरजाय तो नावाध्यक्ष अपने पास से उसकी क्षति-पूर्ति करे*। शत्रुओं या चोर डाकुओं की नावें अथवा ऐसी नावें जो व्यापारी नगरों या बन्दरगाहों के नियमों का उलंघन करें, नष्ट कर दी जांय।

स्थल मार्गों की उपयोगिता—ये व्यापार-मार्ग नगर से चारों दिशाओं को जाते थे। आचार्य ने इन मार्गों की उपयोगिता की तुलना करते हुए लिखा है कि यद्यपि प्राचीन आचार्यों का मत है कि दक्षिण की ओर मार्ग की अपेक्षा उत्तर का अर्थात् हिमालय की तरफ जाने वाला मार्ग श्रेष्ठ है, क्योंकि

---

*नियम से अधिक बोझा लादने या असमय, बिना आज्ञा या नियम विरुद्ध व्यापारी माल लेजाने की दशा में, आचार्य भिन्न भिन्न दंड का आदेश करता है।

इस ओर हाथी, घोड़े, गंध द्रव्य, दाँत, चर्म, चांदी और सोना आदि बहुमूल्य विक्रेय वस्तुएं बहुतायत से मिलती हैं, परन्तु कौटल्य इस मत को नहीं मानता, वह दक्षिण की ओर के मार्ग को ही श्रेयस्कर समझता है कारण कि कम्बल, चर्म, तथा घोड़े आदि इन विक्रेय वस्तुओं को छोड़ कर हाथी आदि सब ही वस्तुयें तथा शंख, हीरा, मणि, मोती, सुवर्ण आदि अन्य अनेक विक्रेय वस्तुयें उत्तर की अपेक्षा दक्षिण में ही अधिक होती हैं। दक्षिण पथ में भी वही वणिक-पथ उत्तम है, जो खानों के पास होकर जाता हो, जिसमें अनेक विक्रेय वस्तुएं मिलती हों जिसपर आना जाना बहुत होता हो तथा जिस में श्रम कम हो। आचार्य का यह मत आजकल भी बहुत मान्य है। प्रायः समुद्र की ओर जानेवाले मार्ग को विशेष महत्व दिया जाता है।

आचार्य ने स्थल-भाग के अन्य व्यापारी मार्गों की उपयोगिता का भी तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया है। वह लिखता है कि पैदल के मार्ग की अपेक्षा गाड़ी आदि का मार्ग अधिक उत्तम समझना चाहिये क्योंकि ऐसे मार्गों से बहुत व्यापार किया जा सकता है। देश-काल के अनुसार गधे और ऊंट का मार्ग भी श्रेष्ठ समझना चाहिये। क्योंकि इनके द्वारा भी व्यापार अधिक परिमाण में किया जासकता है। इसीप्रकार कंधों पर [वंहगी से या बैलों द्वारा] भार ढोने आदि के मार्गों के विषय में समझ लेना चाहिये।

नगरों के आन्तरिक मार्गों के भेद--कौटल्य ने अर्थशास्त्र में, नगरों के जिन भीतरी व्यापार मार्गों का परिचय दिया है, उनमें से मुख्य निम्न लिखित हैं:--

[१] राजमार्ग—कौटल्य बतलाता है कि तीन राजमार्ग पूर्व से पश्चिम को और तीन उत्तर से दक्षिण को जावें। ये आठ दंड अर्थात सोलह गज चौड़े होते थे।

[२] रथ्या—यह मार्ग चार दंड या आठ गज चौड़ा होता था। यह रथ आदि सवारियों के काम आता था।

[३] रथ पथ—यह छोटी गाड़ियों के लिये होता था। इसकी चौड़ाई पांच अरत्नि (ढाई गज) होती थी।

[४] पशु पथ—यह चार अरत्नि (दो गज) चौड़ा होता था। इस पर विविध प्रकार के पशु चलते थे।

[५] क्षुद्र पशु पथ—यह दो अरत्नि (एक गज) चौड़ा होता था, और भेड़ बकरी आदि छोटे पशुओं एवं मनुष्यों के लिये होता था।

नगर से बाहर के मार्ग—अर्थशास्त्र में बतलाये हुए ऐसे मार्गों में से मुख्य ये हैं:— [१] राष्ट्र पथ (राजधानी से बड़े बड़े नगरों को जाने वाला), [२] विवीत पथ (चरागाह को जाने वाला), [३] द्रोण मुख पथ (चार सौ गांवों के केन्द्रीय नगर का मार्ग), [४] स्थानीय पथ (आठ सौ गांवों

के केन्द्रीय नगर को जाने वाला मार्ग), [५] संयानी पथ (व्यापारी मंडियों का मार्ग), [६] और ग्राम पथ (गावों को जाने वाला मार्ग), इनमें प्रत्येक की चौड़ाई सोलह गज होती थी।

मार्गों की रक्षा और निर्म्माण--आचार्य कौटल्य ने इन तथा अन्य मार्गों की ओर यथेष्ट ध्यान दिया है। उसने लिखा है कि नगराध्यक्ष, ग्रामाध्यक्ष, और अन्य अधिकारी समय समय पर सड़कों और पुलों की देखरेख करें। इनको तोड़ने फोड़नेवालों को दंड दिया जाय। कौटल्य ने विविध मार्गों के लिये वणिक पथ, शब्द प्रयोग किया है, इससे विदित होता है कि इन मार्गों के निर्म्माण का एक प्रधान उद्देश्य व्यापारियों को सुविधा पहुँचाना होगा। मार्गों के दोनों तरफ पेड़ लगवाये जाते थे। कुए बनवाये जाते थे। रास्तों को नापने और निर्धारित फासले पर दूरी सूचक चिन्ह लगाने की भी व्यवस्था थी।

स्थलीय व्यापार के वाहक साधन--मालूम होता है कि स्थल मार्ग से जो व्यापार होता था उसके वास्ते माल ढोने के लिये ऐसी गाड़ियां काम में लायी जाती थीं जिन्हें घोड़े, खच्चर, गधे तथा अन्य एक खुर के पशु खींचते थे। बैल आदि भी गाड़ियों में जोते जाते थे। अर्थशास्त्र में हाथी और ऊंट का यथेष्ट उल्लेख है। इसके अतिरिक्त बंहगी के द्वारा और सिर पर रखकर भी ढुलाई का काम किया जाता था।

डाक प्रबन्ध—व्यापार में डाक के प्रबन्ध से बड़ी सहायता मिलती है। आचार्य ने कबूतरों द्वारा संदेश भेजने का उल्लेख किया है, यह हम पहले कह आये हैं। इसके अतिरिक्त अर्थशास्त्र से 'शीघ्र वाहन' अर्थात् तेज सवारियों एवं दूतों या हरकारों द्वारा भी समाचार भेजे जाने की बात मालूम होती है। कौटल्य ने लिखा है, "इशारे पर चलने वाले घोड़े को 'नारोष्ट्र' कहते हैं। गाड़ी के घोड़े ६, ९, तथा १२ योजन, और सवारी के घोड़े ५, ८, तथा १० योजन चलते हैं।" हम पहले बता चुके हैं कि मौर्य काल में यहां सड़कों का प्रबन्ध कितना उत्तम था, इससे डाक भेजने में भी सुविधा होती थी।

विशेष वक्तव्य—कुछ लेखक तत्कालीन परिस्थिति की आधुनिक से तुलना करते हुए उस समय के व्यापार मार्गों तथा साधनों को बहुत अवनत अवस्था का बतलाया करते हैं। वे कहा करते हैं कि प्राचीनकाल में यहां रेलें नहीं थीं, डाक तार, टेलीफोन आदि भी नहीं थे। उन्हें चाहिये कि इस बात का विचार करें कि उससमय अन्य देशों की तुलना में भारतवर्ष के व्यापार मार्ग और साधन कितने उन्नत अवस्था में थे, तथा इससमय कुछ नये नये वैज्ञानिक आविष्कार होजाने पर भी सभ्य संसार में हमारा स्थान कहां है।

—:०:—

बारहवां परिच्छेद

देशी व्यापार

प्राक्कथन--पिछले परिच्छेद में हम कौटलीय अर्थशास्त्र में बतलाए हुए व्यापार के मार्गों और साधनों पर प्रकाश डाल चुके हैं। अब हम आचार्य के व्यापार सम्बन्धी विचारों का परिचय देंगे। पहले देशी अर्थात् आन्तरिक व्यापार के विषय को लेते हैं। इस व्यापार से अभिप्राय देश की सीमा के भीतर भिन्न भिन्न गावों, नगरों या प्रान्तों के आदमियों में होने वाला व्यापार है।

कौटल्य के समय में यह व्यापार बहुत होता था। यद्यपि रोजमर्रा काम में आनेवाली चीज़ों के सम्बन्ध में प्रायः प्रत्येक ग्राम और नगर स्वावलम्बी होता था, उसे दूसरों के आश्रित नहीं रहना पड़ता था, तथापि भारतवर्ष के भिन्न भिन्न स्थान कुछ विशेष पैदावारों, दस्तकारियों उद्योग धन्धों तथा धातुओं और रत्नों आदि के लिये प्रसिद्ध थे। व्यापारी लोग विविध पदार्थों को देश के भिन्न भिन्न स्थानों में ले जाकर बेचते थे। इसप्रकार देश भर में लोगों को कहीं इनका अभाव नहीं रहता था।

व्यापार में राज्य का हस्तक्षेप--कौटल्य की व्यापार नीति की एक विशेषता यह है कि वह व्यापार में राजकीय हस्त-क्षेप के बहुत पक्ष में है परन्तु यह हस्तक्षेप जनता के हित की दृष्टि

से था। उसे प्रजा की भलाई का यथेष्ट ध्यान है। वह लिखता है कि अपने देश तथा परदेश में उत्पन्न हुए दोनों प्रकार के पण्यों का विक्रय आदि राजा को इसप्रकार कराना चाहिये, जिससे प्रजा को किसीप्रकार का कष्ट न हो। यदि किसी काम में बहुत अधिक भी लाभ होता हो परन्तु उस कार्य के करने से प्रजा को कष्ट पहुंचता हो तो राजा उस कार्य को तत्क्षण रोक देवे। इसी प्रकार 'नागरिक के कार्य' शीर्षक प्रकरण में आचार्य कहता है कि 'व्यापारी अपने विश्वस्त यात्रियों को परस्पर एक दूसरे की दुकानों पर ठहरा लेवें। परन्तु जो पुरुष देशकाल के विपरीत विक्रय करने वाला हो उसकी सूचना नगराधिकारी को दी जाय।

व्यापार सम्बन्धी नियम राजाज्ञा--जैसा कि हम 'व्यवस्था' शीर्षक परिच्छेद में बता आये हैं; कौटल्य ने राज्य को व्यापारिक संस्था का भी रूप दिया है, जिससे प्रजा के साथ साथ राज्य की भी दुकाने चलें। उक्त परिच्छेद में ही हमने इस प्रकार की प्रतिद्वन्दिता का भी विचार किया है। कुछ तो इस प्रतिद्वन्दिता को निर्बाध रूप से चलने देने के लिये, कुछ सरकारी दूकानों पर काम करने वाले कर्मचारियों के नियंत्रण के लिये आचार्य ने कई नियम दिये हैं।

कौटल्य का मत है कि कोई व्यक्ति राज्य की आज्ञा अर्थात् लाइसैंस पाये बिना किसीप्रकार का व्यापार बड़े परिमाण में न करे। लाइसैंस देने में राज्य की ओर से बाधा उपस्थित न की जाय। हां, इस बात का यथेष्ट नियंत्रण रखा जाय कि झूठा व्यापार

करने वाले सट्टेबाज व्यापारी, बार बार दुकानें खोल कर तथा दिवाला निकाल कर खुले तौर से व्यापार के रूप में जुआ न खेल सकें। कौटल्य वास्तविक व्यापार चाहता था, बदनी या सट्टा फाटका रोकने के लिये उसने उक्त राज्याज्ञा का नियम बनाया था।

वस्तुएं बेचने के स्थान की व्यवस्था—कौटल्य ने इस बात की ओर यथेष्ट ध्यान दिया है कि नगर में भिन्न भिन्न प्रकार की वस्तुएं बेचने के स्थान पृथक् पृथक् हों।* प्रत्येक व्यापारी अपना माल उसी स्थान में बेचे जो राज्य की ओर से उस माल के लिये निश्चित किया गया हो। कारीगर आदि भी अपना माल वहीं लाकर बेचें। इसप्रकार उन्हें अपने घर पर अथवा माल तैयार होने की जगह सौदा करने और ग्राहक को ठगने का अवसर न मिले।

बनों में मिलने वाले पदार्थ—कुछ जंगलों पर राज्य का अधिकार होता था। इनकी देखभाल आदि के लिये जो राज कर्मचारी रहता था, उसे अर्थशास्त्र में 'कुप्याध्यक्ष' लिखा है।

---

* वह लिखता है 'कि गंध (खुशबू, इतर फुलेल आदि), माला, अन्न तथा घी तेल आदि की दूकानें पूर्व दक्षिण में हों। ………और पका हुआ अन्न बेचने वाली दूकानें (होटल आदि) तथा शराब और मांस की दूकानें दक्षिण दिशा में हों।' इसीप्रकार उसने अन्य दूकानदारों के लिये अलग स्थानों की व्यवस्था की है।

आचार्य का कथन है कि यह अधिकारी, जंगलों में मिलनेवाले पदार्थ अर्थात् लकड़ी, छाल, पशुओं की खाल, दांत, सींग आदि संग्रह कराये और इनसे बनायी जाने वाली अन्य विविध चीज़ें बनवाने की व्यवस्था करे। बिना अधिकार जंगल से लकड़ी काटनेवालों से जुर्माना और राज-कर वसूल किया जाय।

खनिज व्यापार—खनिज कार्य राज्य की ओर से ठेके पर दिये जाते थे, अथवा राज्य स्वयं अपने प्रबन्ध में खानें खुदवाता था। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि सब खानें राज्य की ही होती थीं। खानें प्रजा की भी हो सकती थीं। हां, आचार्य का कथन है कि जो धातु बिक्री के लिये तैयार हो जाय, उसका किसी एक नियत स्थान से विक्रय कराना चाहिये। यदि कोई व्यक्ति राजाज्ञा के बिना किसी स्थान में किसी धातु की उत्पत्ति करके क्रय विक्रय करने लगे तो उसे राजा की ओर से दंड मिलना चाहिये।

ऐसा मालूम होता है कि खान का काम करनेवाले व्यापारियों को आरम्भ में बहुत सा रुपया लगाना पड़ता था, और राज्य उनके उस रुपये के तथा ठेके की रकम के वसूल होने के लिये अपनी देख-रेख में खानों की व्यवस्था कराता था। आचार्य ने लिखा है कि 'खान के ऊपर यदि और लोगों का बहुत धन देना होगया हो, उसको चुकाकर ही खान की आमदनी हो सकती हो, अथवा यह कार्य अत्यधिक यत्न से साध्य हो, तो आकराध्यक्ष को चाहिये कि वह थोड़ा थोड़ा करके लोगों के धन

को धीरे धीरे चुका देवे, अथवा धातु का कुछ भाग एक साथ राजा को देकर, उसके बदले में खजाने से रुपया लेकर, लोगों के धन को चूकता कर देवे। यदि थोड़े ही धन और परिश्रम से यह कार्य सिद्ध होनेवाला हो तो स्वयं ही इस कार्य को पूरा कर देवे।'*

शराब—शराब सरकार के व्यापार की वस्तु थी, अर्थात् कोई व्यक्ति इसे बनाकर बेच नहीं सकता था। कौटल्य के नियमों के अनुसार ठेकेदार को भी सरकारी कारखानों में बनी हुई ही शराब (मोल लेकर) बेचने का अधिकार था। हां, प्रजा विशेष विशेष अवसरों पर अपने काम में लाने के लिये (बेचने के लिये नहीं) शराब बना सकती थी। शराब सेवन करने वाले वैयक्तिक रूप से शराब तैयार करके अपने काम में ला सकते थे। उनकेलिये यह आवश्यक नहीं था कि वे इसे राज्य के सुराध्यक्ष से खरीदें।

नमक--नमक के लिये आचार्य ने कम प्रतिबन्ध रखा है। प्रत्येक व्यक्ति नियमानुसार राज्यानुमति लेकर नमक बना सकता और आवश्यक 'भाग' दे कर बेच सकता था। किन्तु अर्थशास्त्र में बताया गया है कि यह नियम वानप्रस्थ अर्थात् बन

---

* आजकल राज्य ठेकेदारों से ठेके की रकम वसूल कर लेने के उपरान्त उनके हानि लाभ की बहुत कम चिन्ता करता है, ऐसी दशा में आचार्य का उक्त विचार कितना महत्व पूर्ण है।

में रहने वालों के लिये नहीं है, अर्थात् राज की अनुमति लिये बिना भी वे स्वयं नमक को लेकर उसका उपभोग कर सकते हैं। श्रोत्रिय (वेदों का अध्ययन करने वाले), तपस्वी, तथा राजा की इच्छानुसार काम करनेवाले बेगारी पुरुष बिना शुल्क के भी अपने उपभोग मात्र के लिये नमक लेजा सकते हैं*।

माप—व्यापार के लिये वस्तुओं के तोल माप ठीक होने की बड़ी आवश्यकता होती है। आचार्य ने इस ओर पर्याप्त ध्यान दिया है। स्पष्ट और ब्यौरेवार नियम लिखकर वह इस बात की यथासम्भव कोई गुँजायश नहीं रहने देता कि व्यापारी लोग ग्राहकों को ठग सकें या धोखा दे सकें। उसने अर्थशास्त्र में सोलह प्रकार की छोटी बड़ी तराजू और कांटों का और चौदह प्रकार के बांटों का निरूपण किया है। इसके अतिरिक्त उसने घी, दूध, तैल आदि द्रव्यों और अन्न आदि सूखे पदार्थों के माप के लिये चिन्ह लगे हुए पात्रों एवं वस्त्र आदि के माप के लिये गजों के सम्बन्ध में भी यथेष्ट ब्यौरेवार नियम बनाये हैं। उसने लिखा है कि यौतवाध्यक्ष* (तोल माप संशोधन

---

* नमक उस समय विदेशों से भी यहां आता था। परन्तु कौटल्य ने स्वदेशी नमक के व्यवसाय की विदेशी नमक के व्यवसाय से रक्षा करने की यथेष्ट व्यवस्था की थी।

* अर्थशास्त्र के वर्तमान सभी प्रकाशित संस्करणों में 'पौतव' और 'पौतवाध्यक्ष' शब्द आया है। संस्कृत साहित्य में 'पौतव' कोई शब्द नहीं

करने वाला राजकीय अधिकारी) तुला और बांट आदि बनवावे और इन्हें निर्धारित मूल्य पर बेचे। व्यापारियों को चाहिये कि प्रत्येक चार महीने के बाद तुला और बांट आदि का परिशोधन करावें ऐसा न करने वालों को दंड दिया जाय।

राजकीय कारखानों में बने हुए बांट तुला आदि ही प्रामाणिक समझी जाती थी । इन वस्तुओं को बनाने बेचने का काम एकप्रकार से तत्कालीन राज्य का एकाधिकार व्यापार माना जा सकता है।

सार्वजनिक हित—जनता या श्रम के परिच्छेद में हम बता आये हैं कि आचार्य ने इस बात की यथेष्ट व्यवस्था की है कि जीवन निर्वाह सम्बन्धी पदार्थों में किसीप्रकार की मिलावट न की जाय। इसके अतिरिक्त उसने सोना, चांदी, हीरा, मुक्ता, रेशमी ऊनी वस्त्र आदि वस्तुओं को भी असली के स्थान में नकली बेचने वालों का यथेष्ट नियंत्रण किया है। उस ने इस बात के लिये समुचित विधान किया है कि व्यापारी अपने माल को जैसा है वैसा ही बतावें, ग्राहकों से अनुचित कीमत लेने के लिये वे घटिया या खराब माल को न छिपावें और न चुंगी के लोभ से बढ़िया माल को गुप्त रखें। सर्व साधारण के

है, शुद्ध शब्द 'यौतव' है, जिसका अर्थ मान, तोल, या वजन आदि है। मालूम होता है मूल ग्रन्थ की प्रतिलिपि करनेवालों ने भूल से यौतव के स्थान पर पौतव पढ़ा है।

हित का ध्यान रखते हुए वह यह भी लिखता है कि राष्ट्र को पीड़ा पहुँचानेवाले तथा कोई अच्छा फल न देनेवाले माल को राज्य नष्ट करादेवे और जो प्रजा को उपकार करनेवाला तथा अपने देश में कठिनता से मिलनेवाला धान्य आदि या अन्य प्रकार का माल हो उस पर चुँगी न ली जाय जिस से ऐसा माल अधिक मात्रा में आ सके।

इस परिच्छेद को समाप्त करने से पूर्व व्यापारियों के तत्कालीन संगठन का उल्लेख कर देना आवश्यक है।

व्यापारियों का संगठन--अर्थशास्त्र से मालूम होता है कि कौटल्य के समय व्यापारियों की भी संगठित संस्थायें थीं। इन्हें राज्य की ओर से कुछ विशेष सुविधायें प्राप्त थीं। आचार्य लिखता है कि माल ख़राब होजाने पर या दैवी आपत्ति से नष्ट होजाने पर संगठित व्यापारी उस के लिये उत्तरदायी न हो। उस का यह भी कथन है कि व्यापारी चीज के खरीदने से लेकर बिक जाने तक के साथी को उन के कार्य के अनुसार हिस्सा देवे। माल बिक जाने पर जब दूकान उठ जानेवाली हो तो साझी को फौरन ही उस का हिस्सा दे दिया जाय क्योंकि आगे काम करने में सफलता और असफलता दोनों ही समान हैं (इस लिये जो चाहे साझे में काम करे न चाहे न करे पहला हिसाब साफ़ कर दिया जाय)।

—:o:—

तेरहवां परिच्छेद

विदेशी व्यापार

प्राक्कथन—पिछले परिच्छेद में कौटल्य के देशी व्यापार सम्बन्धी विचार बतलाये जा चुके हैं। इस परिच्छेद में उसके विदेशी व्यापार सम्बन्धी विचारों पर प्रकाश डाला जायगा। जब किसी देश में आयात निर्यात करने के साधनों की उन्नति होजाती है, और सभ्यता के विकास के कारण वहां के आदमी अपनी आवश्यकता से अधिक माल बनाने लगते हैं या उन्हें ऐसी वस्तुओं की आवश्यकता होने लगती है, जो उनके यहां नहीं बनतीं, तो वे दूसरे देशवालों से व्यापार करने लग जाते हैं। कभी कभी कोई विजेता भी अपने देश की वस्तुओं का व्यापार, पराजित देश में बढ़ाने का प्रयत्न करता है।

स्वदेशी विदेशी व्यापारियों के जाने आने के सम्बन्ध में कौटल्य की नीति—कौटल्य विदेशी व्यापारियों को यहां बुलाकर उन्हें व्यापार करने के लिये प्रोत्साहित करता है। वह उनके साथ अनेकप्रकार की रियायतें करने और उन्हें आश्रय देने के पक्ष में है। परन्तु वह अपने नागरिकों को विदेशों में मिलने वाली असुविधाओं से यथासम्भव बचाना ही अच्छा

समझता है। उसका मत है कि थोड़े लाभ के लिये या जिस रास्ते से बहुत तकलीफ होती है, उनसे होकर व्यापार नहीं करना चाहिये। विदेश में जाने से पहले, माल लेजाने का किराया, मार्ग में खाने पीने और रक्षा का व्यय, अपने विक्री के और बदले में लिये जानेवाले माल के मूल्य का सामंजस्य, मौसम, देवी आपत्तियों की सम्भावना एवं विदेश के रीति रिवाज और व्यापार तथा आढ़त आदि के नियम जान लेना चाहिये। आचार्य का मत है कि यदि तदुपरान्त व्यापार अनुकूल जान पड़े तो विदेश में व्यापार करने के लिये जाना उचित है। कौटल्य अपनी प्रजा के विदेशी ऋण सम्बन्धी मुकद्दमे सुनने तथा ऋण वसूल कराने की जिम्मेवरी लेने को तैयार नहीं है। उसकी राय है कि प्रजा को विदेश में वहां के राज नियमों के अनुसार व्यवहार करना चाहिये, तथा वहां के सब कर आदि देते रहना चाहिये।

यद्यपि कौटल्य विदेशी व्यापार को, लाभ जनक होने की दशा में, बुरा नहीं कहता, परन्तु वह विदेश में मिलनेवाली विविध बाधाओं और कठिनाइयों को ओर उदासीन भी रहना नहीं चाहता है।

विदेशी व्यापार के लिये सुविधायें—कौटल्य की सम्मति है कि विदेशी व्यापारियों को अपने यहां बुलाकर बसाया जाय और व्यापार करने दिया जाय। वह उनके लिये लाभ की दर द्विगुण कर देता है। उदाहरणतः स्वदेशी व्यापारियों को जिस

प्रकार के माल पर पांच प्रति सैकड़ा लाभ लेने की अनुमति हो, विदेशी व्यापारी उस पर दस प्रति सैकड़ा तक लाभ ले सकें। विदेश से माल मंगाने की दशा में कई शुल्क छोड़े जांय। विदेश से व्यापारार्थ आये हुए आदमियों पर यदि स्वदेशवासियों का कोई ऋण हो तो उस का निर्णय आदि साधारणतः बिना अदालती कार्रवाई के निजी तौर पर करा दिया जाय।

विदेशी व्यापारियों के लिये विविध प्रकार की सुविधाओं की व्यवस्था करता हुआ भी आचार्य इस बात का यथेष्ट ध्यान रखता है कि वे प्रजा को किसीप्रकार का कष्ट या हानि न पहुँचावें। वह प्रजा की रक्षा करने के लिये उनके विषय में ऐसा ही चिन्तित है, जैसा स्वदेशी व्यापारियों के विषय में पहले बता आये हैं।

कौटल्य की, विदेशी व्यापार सम्बन्धी उक्त नीति का विचार करने के लिये दो बातें ध्यान में रखी जानी आवश्यक हैं। प्रथम तो वह नमक जैसे उन पदार्थों के व्यापार को उत्तेजना नहीं देता जो यहां बनते हों, वह ऐसे पदार्थों को भारी कर लगाकर विदेश से आने से रोकता है। दूसरे, उससमय प्रायः अन्य देश कारीगरी का माल तैयार करने वाले नहीं थे। इसलिये कौटल्य की नीति देश कालानुसार बहुत हितकर थी।

विदेशों से आनेवाली वस्तुएं—कौटल्य के समय में यहां विदेशों से आनेवाली वस्तुओं की संख्या बहुत परिमित

थी *। मूल्यवान पदार्थों में कई प्रकार के मोती जो ईरान की खाड़ी, अफरीका के किनारे और यूनान सागर से निकाले जाते थे, बाहर से आनेवाली वस्तुएं थीं। कपूर, दालचीनी आदि मसालों के अतिरिक्त मूँगा भारतीय महासागर के द्वीपों से आता था। चीनी, रेशम विशेषतया 'क्रिमितान' और कच्चा रेशम चीन से आता था। सम्भव है कि हिमालय पार के देशों से कई तरह के चमड़े के वस्त्र और 'हारहनूज़' शराब यहां आती हो। अर्थशास्त्र से यह अनुमान होता है कि उस समय घोड़े यहां अरब और ईरान से आते थे।

इन वस्तुओं के अतिरिक्त केवल सोना चांदी को छोड़कर, जो यहां से जानेवाले पदार्थों के मूल्य में रोम, यूनान, चीन और अरब आदि देशों से आते थे और कोई विदेशी पदार्थ बहुत कीमत का अथवा बड़ी मात्रा में यहां उससमय आता मालूम नहीं होता।

आयात शुल्क—कौटल्य ने आयात माल पर साधारणतया पंचमांश अर्थात् बीस प्रति सैकड़ा और कुछ वस्तुओं पर इससे कम आयात शुल्क लिये जाने का आदेश किया है।

---

* विदेशों का अभिप्राय यहां वर्तमान भारत की सीमा से बाहर के देशों का नहीं है, वरन् केवल उन देशों से है, जो चन्द्रगुप्त के राज्य की सीमा से बाहर के थे। इस सीमा का परिचय भूमि शीर्षक परिच्छेद में दिया जा चुका है।

वह लिखता है फूल, फल, शाक, मूल, कन्द, बीज, सूखी मछली और मांस पर षष्ठांश कर लिया जाय। शंख, हीरा, मणि, मोती मूंगा, हार पर विशेष शुल्क नियत किये जांय। रेशमी वस्त्र, कवच, हरताल, हिंगुल, लोहा, रंग बनाने की धातु, चन्दन, अगर, मिर्च, पीपल, शराब, हाथी आदि का दांत, चमड़ा, रेशे के पदार्थ और ऊनी वस्त्र पर इनके मूल्य का दसवाँ या पन्द्रहवां हिस्सा शुल्क लिया जाय। साधारण कपड़ा, दो पैर के प्राणी, चौपाये, सूत, कपास, गंध, औषधि, लकड़ी, बांस, छाल, मिट्टी के बर्तन, धान्य, घी तेल, नमक, मिठाई, पके हुए अन्न पर इनके मूल्य का बीसवां या पच्चीसवां भाग अर्थात् ५ या ४ फी सदी शुल्क लिया जाना चाहिये *।

इससे विदित होता है कि आयात माल पर शुल्क की मात्रा काफी भारी है। इसका एक उद्देश्य हो सकता है, विदेशी माल को अपने यहां न आने देकर स्वदेशी माल को प्रोत्साहन देना। इसे संरक्षणनीति का व्यवहार कहा जाता है। इसका दूसरा उद्देश्य यह भी हो सकता है कि शुल्क से राज्य की आय की वृद्धि हो। श्री सत्यकेतु जी का विचार है कि उससमय मौर्य साम्राज्य में दूसरा ही उद्येश्य लक्ष्य में था।

---

* इसके अतिरिक्त आयात शुल्क का पांचवा हिस्सा नगर के प्रधान द्वार के प्रवेश का शुल्क होना चाहिये। इसे इसप्रकार नियत किया जाय, जिससे कि अपने देश का सदा उपकार होता रहे।

भारतवर्ष से बाहर जानेवाली चीजें—प्राचीन और स्वतंत्र भारतवर्ष के विदेशी व्यापार का दृष्टिकोण सदैव यह रहा है कि विदेशों को वे ही चीजें भेजी जांय, जो अपने यहां की मांग से अधिक हों और जीवन के लिये उपयोगी तथा आवश्यक हों। इसप्रकार न तो यहां से अन्न, घी आदि पदार्थ बाहर भेजे जाते थे, और न अफीम, भंग आदि मादक द्रव्य ही। केवल ऊनी, सूती, रेशमी आदि विविध प्रकार के बढ़िया वस्त्र, हाथी दांत की बनी तलवार की मूठ, कवच, तलवारें, हड्डी, स्नायु आदि के बने कारीगरी के पदार्थ, सूखा मांस, मसाले, औषधियां, कपूर, लोभान, खस, चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्य ही भारतीय व्यापारी विदेशों में स्वयं जाकर या विदेशियों को यहां बुलाकर बेचते थे।

पहले बताया जा चुका है कि कौटल्य, राज्य की ओर से विदेशी व्यापारियों को विविध सुविधायें देने के पक्ष में है। यद्यपि वह प्रत्येक प्रकार की उपयोगी वस्तु स्वदेश में ही पैदा या तैयार करने का आदेश करता है, उसका आदर्श देश के एकान्त स्वावलम्बी जीवन का नहीं था, वह संसार के भिन्न भिन्न भागों में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक सम्बन्ध करने का इच्छुक था।

विदेशी विनियम—आजकल विदेशी व्यापार के लिये अन्यान्य बातों में विदेशी सिक्कों के विनियम सम्बन्धी ज्ञान की

भी वहुत आवश्यकता होती है। प्राचीन काल में इस ज्ञान की आवश्यकता सम्भवतः विशेष नहीं होती थी क्योंकि उससमय का व्यापार प्रायः वस्तुओं के अदल वदल से हो जाता था। यही कारण है कि कौटल्य अर्थशास्त्र में विदेशी विनियम के सम्बन्ध में कुछ उल्लेख नहीं मिलता। आचार्य ने राजकोष में केवल उन सिक्कों के लिये जाने का आदेश किया है जो देश के कानून के अनुसार बनाये गये हों इस से विदेशी सिक्कों के स्वीकार न किये जाने का भाव निकलता है। किन्तु उसने ऐसे सोने या स्वर्ण मुद्रा के लिये जाने का भी उल्लेख किया है जिसे लक्षणाध्यक्ष अर्थात् टकसाल के अधिकारी ने जांच करके शुद्ध ठहराया हो। ऐसे अवसर पर सम्भवतः कौटल्य के खजानचियों को विदेशी स्वर्ण मुद्राओं का मूल्य उनकी धातु के मूल्य के अनुसार निश्चय करना पड़ता होगा।

विशेष वक्तव्य—अर्थशास्त्र में आयात निर्यात के अंक दिये हुए न होने से हम तत्कालीन विदेशी व्यापार की आधुनिक व्यापार से तुलना करने में असमर्थ हैं। तथापि यह स्पष्ट है कि इससमय रेल और मोटर आदि के कारण माल लाने, ले जाने की जैसी सुविधायें हैं वे उस समय न होने से तत्कालीन व्यापार का परिमाण अवश्य ही वहुत कम होगा। विदेशों को भारी पदार्थ जाने या वहां से आने सहज न थे। पहले सूचित किया जा चुका है कि अन्न की यहां से निर्यात नहीं होती थी। यह तो सभी जानते हैं कि विलायती वस्त्र तथा शौकीनी का

तैयार माल यहां नहीं आता था। भारतवर्ष अपनी साधारण आवश्यकताओं के लिये परावलम्बी नहीं था और यहाँ के कच्चे माल से विविध वस्तुएं तैयार करने से अनेक आदमियों का निर्वाह होता था।

कुछ आदमी यह समझते हैं कि यदि प्राचीनकाल में भारतवर्ष का विदेशी व्यापार आजकल की अपेक्षा कम था, तो यह इसकी तत्कालीन आर्थिक अवनति का द्योतक है। परन्तु वास्तव में यह बात नहीं है। आयात निर्यात के परिणाम के घटने या बढ़ने मात्र से देश की आर्थिक उन्नति या अवनति प्रमाणित नहीं होती। देश की आर्थिक स्थिति का अनुमान करने में यह बिचार करना होता है कि आयात निर्यात किस किस प्रकार के पदार्थों की होती है, और उनका देश निवासियों पर क्या प्रभाव पड़ता है। इस दृष्टि से यह कहा जासकता है कि विदेशी व्यापार तत्कालीन उन्नति का ही सूचक है।

× × ×

इस परिच्छेद में बतलायी हुई बातों पर विचार करने से यह सहज ही अनुमान होसकता है कि आचार्य कौटल्य व्यापार के विषय में राज्य के साथ प्रजा के हित चिन्तन में कितना लवलीन था।

—:o—

चौदहवां परिच्छेद

उपभोग के पदार्थ

इस पुस्तक के पिछले परिच्छेदों में हम कौटल्य के धनोत्पत्ति और व्यापार सम्बन्धी विचार दे चुके हैं। मनुष्य किसी वस्तु की उत्पत्ति या क्रय विक्रय इसीलिये किया करते हैं कि उन्हें विविध आवश्यकतायें हुआ करती हैं वे भिन्न भिन्न वस्तुओं का उपभोग करना चाहते हैं। अस्तु इस परिच्छेद में आचार्य के उपभोग सम्बन्धी विचारों पर प्रकाश डाला जायगा पहले उपभोग के तत्कालीन पदार्थों का विवेचन किया जाता है।

भारत वासियों की सुख समृद्धि--अर्थशास्त्र के अनुसार उन वस्तुओं की सूची बहुत लम्बी है जिसे उस समय का भारती समाज काम में लाता था। उदाहरणवत आचार्य ने बढ़िया ऊनी रेशमी और सूती वस्त्र, सोने चांदी और ताम्बे आदि के बर्तन, हीरा, मूंगा, मोती, चन्दन; कपूर, कस्तूरी, खस आदि मूल्यवान वस्तुओं से लेकर अनेक प्रकार की औषधियों, घी, तेल, अनेक प्रकार के अन्न, दाल, लकड़ी, पत्थर, रत्न, आभूषण, पुष्प, वाहन, हाथी, घोड़े, गाय, भैंस, तोता, मैना आदि पालतू पशु पक्षियों तक का उल्लेख किया है। उसने सोने के कवच, रत्न जड़ित हथियार, बड़ी नाव, भांति भांति के भोजन और आमोद

प्रमोद के साधनों का भी वर्णन किया है। इस से तथा तत्कालीन विदेशी यात्रियों के लेखों से यह सहज ही अनुमान होसकता है कि यहां अधिकतर समाज सुख सम्पन्न था। परन्तु हमें उपभोग सम्बन्धी कुछ विशेष विचार करना चाहिये। विस्तार भय से हम यहां कुछ खास खास आवश्यकताओं की पूर्ति का ही विषय लेते हैं।

भोजन—यहां गेहूं, मूँग, उड़द, चावल आदि नाना प्रकार के अन्न होते थे। फलतः यहां उनका उपभोग होता था। अर्थ-शास्त्र में धान्यवर्ग के अतिरिक्त, स्नेह (घीतेल आदि), क्षार वर्ग (राब, गुड़, खांड़, मिश्री, कन्द आदि), लवण (नमक आदि), मधु (शहद)* और तरह तरह के मसाले आदि का भी उल्लेख मिलता है।

आचार्य ने मनुष्यों एवं पशु पक्षियों के भोजन का परिमाण, तथा विविध-भोजनों के बनाने की विधि भी व्यौरेवार लिखी है। बिना टूटे हुए एक प्रस्थ चावल, चौथायी प्रस्थ सूप अर्थात् दाल, सूप का सोलहवां हिस्सा नमक, तथा सूप का चौथा हिस्सा घी अथवा तेल मध्यम स्थिति के एक आर्य पुरुष का भोजन होता है। अधम स्थितिवालों के लिये दाल प्रस्थ का छठा भाग और और घी या तेल पहले से आधा होना चाहिये। शेष सामान पहले के बराबर होना चाहिये। इसमें चौथायी हिस्सा कम

---

*मुनक्का का भी शहद बनाया जाता था।

भोजन स्त्रियों के लिये होना चाहिये, तथा आधा हिस्सा बालकों के लिये होना चाहिये। *

मालूम होता है कि उस समय यहां मांस का भी उपभोग बहुत होता था, और इसके लिये कईप्रकार के पशु (हिरण, अरण भैंसा, सुअर आदि), पक्षी (मोर आदि), और मछलियां मारी जाती थीं। सूखे मांस का भी उपभोग होता था।

जैसा कि हमने अन्यत्र कहा है, उस समय शराब का सेवन खासी मात्रा में होता हुआ ज्ञात होता है। कौटल्य ने लिखा है कि शराबखानों को निम्न लिखित रीति से बनवाया जाय।

उनमें अनेक कक्ष्या अर्थात् कमरे होने चाहिये, सोने और बैठने के लिये अलहदा अलहदा कमरे बने हुये हों तथा शराब पीने के स्थान भी पृथक पृथक हों। इन में सुगन्धि, फूल, माला तथा जल आदि का पूरा प्रबन्ध हो। ये इस ढंग के बने हुये होने चाहिये कि प्रत्येक ऋतु में सुखकर हो सकें।

वस्त्र—आचार्य ने जिन वस्त्रों का उल्लेख किया है, उनमें से कुछ निम्न लिखित हैं:—

सूती, रेशमी, तथा भेड़ बकरी के ऊन के बने हुये वस्त्र, ओढ़ने के और बिछाने तथा पहनने के वस्त्र, मोटे रेशमी कपड़े, महीन रेशमी बढ़िया बढ़िया कपड़े, चीन के बने रेशमी

---

* कौटल्य के दिये हुए परिमाणों के अनुसार एक प्रस्थ, आजकल के हिसाब से आध सेर के लगभग होता है।

कपड़े, रंकू नामक हिरण के ऊन के कपड़े, सेम्भल तथा सन के और छाल को कूट कर निकाले हुये रेशे से भी तरह तरह के बने वस्त्र, जिनका मूल्य बाजार में कपड़े की चिकनायी, बनावट और मोटाई तथा माल के वजन के अनुसार होता था, दुशाले, भेड़ और बकरी के चमड़े के वस्त्र आदि। वस्त्रों के इन उदाहरणों से सिद्ध है कि उपभोग की यह मद साधारण पदार्थों तक ही परिमित न थी।

धातुओं और रत्नों का उपभोग—अर्थशास्त्र के 'कोष में ग्रहण करने योग्य रत्नों की परीक्षा' शीर्षक प्रकरण में दस से लेकर एक हजार आठ मोतियों तक की मालाओं का उल्लेख, है जिनमें कई कई लड़ होती थीं। आचार्य ने तीन प्रकार के जवाहरात, छः प्रकार के हीरे, दो प्रकार के प्रवाल (मूंगे) बतलाकर इन में से एक एक के बहुत से भेद गिनाये हैं। उसने सोने के आठ और चांदी के पांच भेद बतलाये हुये इनके अनेक आभूषणों तथा इन धातुओं के अतिरिक्त तांबे लोहे जस्त, कांसे आदि के बर्तन और अन्य वस्तुओं का भी उल्लेख किया है। इन के उपभोग से समाज की समृद्धि का ज्ञान होता है।

उपभोग के अन्य पदार्थ—रोजमर्रा काम में आने वाले जिन अन्य पदार्थों का आचार्य ने उल्लेख किया है उन में से कुछ निम्न लिखित हैं:—

चंदन-कम से कम सोलह प्रकार का। अगर, दारु हल्दी आदि के अनेक भेद।

चमड़ा-रंग उत्पत्ति स्थान और घटिया बढ़िया होने के कारण पंद्रह तरह का। इनमें समूर, मृग व्याघ्र चर्म आदि भी शामिल हैं।

पशुओं की हड्डी बाल दांत आदि।

पत्थर ईंट आदि इमारत का सामान।

सूत, सन, बांस, बेंत, रेशम की डोर, वर्त्त (मोटे रस्से), छोटी बड़ी रस्सी, फर्श आदि।

तौल माप 'के' यंत्र-इन का उल्लेख देशी व्यापार शीर्षक परिच्छेद में किया जा चुका है।

घटि यंत्र-छेद किये हुए घड़े में पानी भरकर समय नापने के लिये। छाया पुरुष, धूप में परछाई के अनुसार समय का अनुमान करने के लिये।

यज्ञ और देव पूजा का सामान—कोयला ईंधन आदि जलने वाले पदार्थ।

उप धातु-हड़ताल, मनसिल, हिंगुल (शिंगरफ), गेरू और रंगाई के काम में आनेवाली दूसरी मिट्टियां।

विविध औषधियां, लकड़ी बाँस मिट्टी के बर्तन।

खेती के काम में आनेवाले अनेकप्रकार के बीज, कृषकों और कारीगरों के काम के औजार।

तरह तरह के हाथी, घोड़े, रथ, गाय, भैंस आदि पशु इत्यादि।

लड़ाई का सामान--मौर्य काल का भारत, देशरक्षा के कार्य में स्वावलम्बी था। पर्याप्त संख्यक युवक और युवतियां भी अस्त्र शस्त्र चलाने में अभ्यस्त थीं। ऐसी स्थिति में लड़ाई के सामान की प्रचुरता होनी तथा उसका घर घर प्रचार होना स्वाभाविक ही था अर्थशास्त्र में युद्धोपयोगी वस्तुओं की सुदीर्घ सूची दीगयी है।

विशेष वक्तव्य--सम्भव है कुछ पाठकों को इस परिच्छेद में दी हुई उपभोग के पदार्थों की सूची बहुत बड़ी प्रतीत हो तथापि यह पूर्ण नहीं है। अर्थशास्त्र में उल्लेखित सब वस्तुओं के नाम देना अभीष्ट भी नहीं है। ऊपर दिये उदाहरण ही भारतवासियों की तत्कालीन आर्थिक परिस्थिति का आभास देने के लिये पर्याप्त हैं।

पन्द्रहवाँ परिच्छेद

रहन सहन और आचार व्यवहार

पिछले परिच्छेद में यह बताया जा चुका है कि आचार्य कौटल्य के ग्रन्थ से यहां के उपभोग्य पदार्थों की कैसी जानकारी प्राप्त होती है। अब इस परिच्छेद में हम यह देखेंगे कि उस समय यहां लोगों का रहन सहन और आचार व्यवहार कैसा था, तथा आचार्य ने उसके सम्बन्ध में क्या विचार प्रकट किया है, अथवा व्यवस्था की है।

लोगों का रहन सहन—यद्यपि आचार्य ने लोगों के रहन सहन के विविध नियम दिये हैं, उसने उनके तत्कालीन रहन सहन का क्रमबद्ध वर्णन नहीं किया है। इसलिये और आचार्य के विचारों को समझने के लिये भी इस सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध विदेशी यात्री मेगस्थनीज़ के लेख का निम्नलिखित उद्धरण विचारणीय है। वह लिखता है कि 'भारतवर्ष के लोग अपने घर और सम्पत्ति को प्रायः अरक्षित (बिना ताला लगाये) छोड़ देते हैं, चोरी बहुत कम होती है। चन्द्रगुप्त की छावनी में प्रायः चार लाख आदमी रहते थे, किन्तु वहां किसी भी दिन दो सौ द्राच्मी (लगभग चालीस रुपये) से अधिक की चोरी की इत्तला नहीं होती थी। वे अपनी चाल-ढाल में सीधे और मितव्ययी होने के कारण पूरे सुख से रहते हैं। यज्ञों को छोड़ कर मदिरा

कभी नहीं पीते। उनका शरबत चावल के माड़ से बनाया जाता था। भोजन अधिकतर भात था। * उसने यह भी लिखा है कि 'गृह-पत्नि वर्ष के आरम्भ में ही वर्ष भर तक काम में आनेवाली अन्न मसाला आदि वस्तुएं संग्रह करती थी। वेष-भूषा और शृंगार की सामग्री की भी कमी न थी। नागरिक संवारे हुए बाल रखते थे, और समय समय पर घोड़े पर चढ़कर गोष्ठियां मनाने के लिये बागों में जाया करते थे, जहां नाच-रंग का भी सामान रहता था।' उसका यह भी कथन है कि भारतवासी सदाचार और सचाई की खूब प्रतिष्ठा करते हैं, बूढ़ों को भी तब तक विशेष अधिकार नहीं देते, जबतक उनकी वृत्ति उत्कृष्ट न हो।

नैतिक स्थिति--उपर्युक्त उद्धरणों से दो बातें स्पष्ट हैं, (१) भारतवासी सुखी, और सम्पन्न अवस्था में थे, (२) भारतवासियों की नैतिक स्थिति भी ऊंचे दर्जे की थी। विचारणीय प्रश्न यह है कि इन दोनों बातों का मेल कैसे था? बहुत से पाठकों को इन दोनों बातों के एक साथ, एक ही समय होने में सन्देह हो सकता है, विशेषतया जब कि यह देखने में आता है कि यदि चोरी आदि के कुछ अपराध निर्धनों और असहायों में विशेष रूप से होते हैं तो कुछ अन्य अपराध और भी अधिक

* यह बात सम्भवतः पाटलीपुत्र (विहार) के अनुभव के आधार पर लिखी गयी है। हम पहले बता चुके हैं कि यहां गेहूँ मूंग उड़द आदि भिन्न भिन्न प्रकार के अन्न पैदा होते थे, फलतः इस देश के भिन्न भिन्न स्थानों में भात के अतिरिक्त उनका भी उपभोग होता था।

परिमाण में धनिकों में देखने में आते हैं। इस विषय का सम्यग् विचार करके आचार्य कौटल्य ने अर्थशास्त्र में प्रजा के सदाचार को उच्च बनाने के लिये बहुत जोर दिया है, और जिन लोगों पर इस बात का प्रभाव नहीं पड़ सकता था, उनके लिये उसने कठोर दंड की भी योजना की है। *

इतिहास की साक्षी से जान पड़ता है कि आचार्य को अपने उद्देश्य में आशातीत सफलता हुई। प्रजा का आदर्श इतना उच्च हो गया कि देश में अपराधियों का प्रायः अभाव सा होगया।

हां, कुछ बातें ऐसी भी थीं, जो सभा समाज में अच्छी नहीं मानी जातीं जैसे एक पुरुष का कई स्त्रियों से विवाह, पशुबलि और वेश्या गमन। आचार्य ने इनके नियंत्रण या विरोध के लिये जो उपाय किये उनका उल्लेख अन्यत्र किया गया है। यद्यपि सुप्रसिद्ध यूनानी यात्री मेगस्थनीज़ भारतवर्ष में तलाक की प्रथा होने का उल्लेख नहीं करता, अर्थशास्त्र में इसके नियम मिलते हैं।

अस्तु, यह कहा जा सकता है कि आचार्य के समय में साधारणतया भारतवासी ऊंचे दर्जे के नागरिक थे, उनकी आर्थिक और नैतिक स्थिति तो अच्छी थी ही, उन्होंने सामूहिक रूप से भी अपनी सभ्यता और शिष्टाचार का इतना विकास कर लिया था कि विदेशी उनसे प्रभावित होते थे।

* यद्यपि साधारणतया कठोर दंड की व्यवस्था के विरुद्ध बहुत कुछ कहा जासकता है, देशकाल के अनुसार विशेष परिस्थितियों में नीतिकारों ने सर्वत्र इसकी आवश्यकता अनुभव की है।

सोलहवां परिच्छेद

नगर और ग्राम

नगर और ग्रामों की दशा से भी लोगों की उपभोग सम्बन्धी स्थिति पर प्रकाश पड़ता है, अतः इस परिच्छेद में हम आचार्य के इस विषय सम्बन्धी विचार देते हैं।

नगर निर्माण--आचार्य कौटल्य ने नगर निर्म्माण सम्बन्धी अपने विचार ब्यौरेवार प्रकट किये हैं। इससे उसकी आदर्श नगर की कल्पना का परिचय मिलता है। साथ ही यह भी जानने में सहायता मिलती है, कि उसके समय में नगरों की रचना किसतरह की होती होगी। स्मरण रहे कि उन दिनों (तथा अठारहवीं शताब्दी तक) नगर रचना में युद्ध सम्बन्धी आवश्यकताओं का यथेष्ट ध्यान रखा जाता था, और इसलिये नगर किलों के रूप में बनाये जाते थे। मकान बनाने में ईंट और पत्थर के अतिरिक्त आवश्यक्तानुसार लकड़ी का उपयोग होता था। आचार्य ने लकड़ी के उपयोग का विरोध किया है। दुर्ग-विधान के प्रकरण में वह कहता है कि प्राकार (दीवार) लकड़ी की कभी नहीं बनवाना चाहिये, क्योंकि इसमें सदा अग्नि सन्निहित रहती है। आचार्य ने अग्नि से मकानों की रक्षा करने के भी विविध उपाय बतलाये हैं।

आचार्य ने लिखा है कि नगर चारों ओर एक प्राकार से

घिरा होना चाहिये, जिसमें बारह द्वार हों। नगर में तीन रास्ते पूर्व से पश्चिम की ओर, और तीन रास्ते उत्तर से दक्षिण की ओर जानेवाले बनाये जांय। नगर के राजमार्ग और ऐसे मार्ग जो द्रोणमुख (तहसील) और स्थानीय (जिले) और राष्ट्र (प्रान्त) को तथा जंगलों को जानेवाले हों, आठ गज चौड़े रखे जावें। छावनी, श्मशान और गाँव को जाने के मार्ग इससे दुगने बनाये जांय।*

जनता के जाने-आने के मार्ग शुद्ध जल और भूमि वाले बनाये जांय, जहां छिड़काव होता हो। इधर उधर कुएं, प्याऊ आदि हों।

नगर की चार दिवारी के बाहर २८, २४ या २० गज चौड़ी तथा कम से कम २० फुट गहरी खाई खोदी जाय जो सदा जल से भरी रहे और जिस में मगरमच्छ आदि रहें।

इस खाई से बाहर, आठ गज की दूरी पर एक और प्रकोटा बनाया जाना चाहिये जो १२ गज ऊंचा और २४ गज चौड़ा हो। इस पर कांटेदार झाड़ियां और वृक्ष लगाये जांय।

नगर के नवें भाग में मध्य से उत्तर की ओर चारों वर्णों के लोगों के मकानों के बीच में राजा का महल बनाया जाय। उस के पूर्वोत्तर भाग में आचार्य, पुरोहित के रहने का तथा

---

* कौटल्य ने अन्य मार्गों की चौड़ायी भी निर्धारित की है। इस विषय का कुछ उल्लेख हमने व्यापार के मार्ग और साधन परिच्छेद में किया है।

हवन और पानी का स्थान बनाया जाय और वहां पर ही मंत्रियों के भी रहने के मकान हों। पूर्व दक्षिण भाग में भोजनालय, हस्ति शाला तथा वस्तु भंडार, पूर्व में गन्ध, धान्य, रस की दुकानें, क्षत्रियों तथा प्रधान कारीगरों के मकान, दक्षिण पूर्व में खज़ाना, आय-व्यय विभाग तथा कारखाने, दक्षिण पश्चिम में जांगलिक पदार्थ भंडार तथा हथियार भंडार, इस के बाद दक्षिण में धान्य, व्यापार व्यवसाय कारखाने तथा सेना आदि के अध्यक्षों के मकान, मिठाई, पकवान, शराब, मांस आदि की दूकानें तथा वेश्या गृह, पश्चिम दक्षिण में गधों, ऊंटों के रहने के स्थान तथा मेहनती मज़दूरों के मकान, पश्चिमोत्तर में घोड़ा, गाड़ी, रथ आदि की शाला, पश्चिम में ऊन, सूत, बांस, चाप, कवच, शस्त्र, आवरण आदि के कारीगरों के मकान, उत्तर पश्चिम में दुकानें बाज़ार तथा दवाईखाने, उत्तर पूर्व में कोष तथा गाय, घोड़े, इस के बाद उत्तर दिशा में नगर तथा राज-देवता के मन्दिर, धातु तथा हीरे जवाहरात के कारीगर और ब्राह्मण लोग तथा बीच की गलियों में श्रेणी आदि व्यापारीय व्यावसायिक तथा श्रमीय संघों के मकान होने चाहिये।

इन नियमों के अनुसार नगर निर्म्माण का चित्र बहुत सुन्दर होगा।

एक आदर्श नगर—पाटलीपुत्र—मौर्यकालीन नगरों में हमें पाटलीपुत्र का वर्णन प्रामाणिक रूप से मिलता है, कारण यूनानी राजदूत मेगस्थनीज़ यहां स्वयं रहा था। उसके

लेख से मालूम होता है कि यह नगर गंगा और सोन के संगम पर बसा हुआ था *। यह ८० 'स्टेडियो' (आठ कोस) लम्बा और १५ 'स्टेडियो' (डेढ़ कोस) चौड़ा था। यह समानान्तर चतुर्भुज के आकार का था। चारोंतरफ लकड़ी की दीवार बनी थी, जिसके बीच में तीर छोड़ने के लिये छिद्र बनाये हुये थे। इस दीवार में ५७० बुर्ज और ६४ फाटक थे। दीवार के आगे रक्षा के लिये चारोंओर एक खाई थी, जो मैला बहाने के भी काम आती थी। यह ४५ फुट गहरी और ६०० फुट चौड़ी थी।

कौटल्य के नगर निर्म्माण सम्बन्धी विचार आधुनिक राजधानियों और छावनियों के लिये तो बहुत कुछ उपयोगी हैं ही, साधारण नगरों के लिये भी सैनिक बातों को छोड़कर अन्य बातों से कुछ न कुछ लाभ अवश्य उठाया जा सकता है।

गांव—आचार्य ने ग्रामों के विषय में भी अपने विचार प्रकट किये हैं। उसका कथन है कि ग्रामों की सीमा एक कोस से लेकर दो कोस तक हो। प्रत्येक ग्राम में सौ से लेकर पांच सौ तक परिवार रहें। उनमें किसानों की संख्या अधिक हो। उनकी रचना इसप्रकार हो कि एक दूसरे की रक्षा कर सकें। नदी, पहाड़, जंगल, पेड़, नहर, तालाब आदि से उनकी सीमा नियत की जाय। वागुरिक, शवर, पुलिन्द, चांडाल तथा जंगली लोग

---

* उसने यूनानी भाषा में, इसे 'पाली वोथ्रा' लिखा है।

सीमा की देख रेख करें। कृषियोग्य भूमि के सिवाय गांव के समीप गोचर-भूमि छूटी रहे जिस पर गांव के पशु चर सकें।

अर्थशास्त्र से मालूम होता है कि गावों में गड़रिये ग्वाले कारीगर और दूकानदार आदि भी रहते थे। गांववालों के आराम के लिये वहां तालाब, कुए, बगीचे, और रास्ते आदि या तो राज्य की ओर से बनवा दिये जाते थे, या इनके बनाते वालों की सहायता की जाती थी। कौटल्य ने लिखा है कि वान-प्रस्थियों को छोड़कर कोई सन्यासी ग्राम में न बसे, न वहां कोई बड़ी व्यापारिक कम्पनी हो, और न कोई खेल तमाशों के लिये रंगशाला आदि मकान ही बना सके। नट नर्तक, गायक वादक, तथा भांड, गांव वालों के काम में हर्जा न करें। चोर, शेर तथा जहरीले घातक जन्तुओं से चरागाहों तथा गोचर भूमियों की रक्षा का समुचित प्रबन्ध राज्य की ओर से रहे।

ग्राम संगठन में अनुराग रखनेवाले सज्जन विचार करें कि वे अपने इस प्राचीन नीतिज्ञ और राष्ट्र सूत्रधार आचार्य के विचारों से कहां तक लाभ उठा सकते हैं।

—:o:—

सत्रहवां परिच्छेद

दुरुपभोग का नियंत्रण

यदि विचार कर देखा जाय तो प्रत्येक देश में बहुत सा धन व्यर्थ खर्च होता है, उससे राज्य या जनता का कुछ लाभ नहीं होता, प्रत्युत वह भावी उत्पत्ति के लिये भी बाधक होजाता है। उदाहरण के लिये मद्यपान, वेश्यागमन, जुए और अनुचित दान धर्म में किये गये खर्च लोगों की कार्यक्षमता का ह्रास करते हैं। अतः प्रत्येक व्यक्ति को यह विचार करना चाहिये कि दुरुपभोग की मात्रा यथासम्भव कम हो। इस परिच्छेद में हम यह विचार करेंगे कि कौटल्य ने अपने समय में दुरुपभोग की समस्या को किसप्रकार तथा कहाँ तक हल किया था।

मादक पदार्थों का सेवन—आचार्य ने शराब बनाने और बेचने के अतिरिक्त इसके उपभोग के नियम भी बहुत कठोर रखे हैं। उसका आदेश है कि चार तोले शराब भी राजकीय आज्ञा के बिना केवल उस व्यक्ति को दी जाय जिसके आचार विचार के सम्बन्ध में यथेष्ट जानकारी हो। अपनी हैसियत से अधिक मद्यपान में खर्च करनेवाले व्यक्ति शराब खाने में ही पकड़ लिये जायं। कौटल्य का नियम है कि शराब साधारणतया

शराबखाने में ही पी जाय। आचार्य शराबखानों में राजकीय गुप्तचरों की भी योजना करता है।

जान पड़ता है कि उससमय शराब का प्रचार बहुत बढ़ गया था। इसलिये इस विषय में कौटल्य को एकाध रियायती नियम भी रखना पड़ा है। उदाहरणार्थ—उसने यह नियम करके भी कि मजदूरों को उनका वेतन सिक्के (तथा खाद्य पदार्थों) में दिया जाय, इस बात की व्यवस्था की है कि ऊंट, बैल या सुअर आदि के पालन पोषण करने आदि तुच्छ कार्यों के बदले में छोटे दर्जे के नौकर चाकरों को घटिया शराब दे दी जाया करे। तथापि वह बढ़िया शराब को अधिक मूल्य पर ही बेचने का नियम रखता है। वह इस बात की अनुमति नहीं देता कि कम मूल्य पर उधार या अधिक व्याज पर भी बढ़िया शराब बेची जाय। यद्यपि समाज की तत्कालीन परिस्थिति के अनुसार वह बसन्त आदि के उत्सवों पर तथा सामाजिक जलूस या विवाह शादी आदि के अवसर पर मद्यपान सम्बन्धी प्रतिबन्ध शिथिल करता है, किन्तु ऐसी अनुमति चार दिन से अधिक के लिये एक समय में किसी दशा में नहीं दी जाती। यदि इसप्रकार की अनुमति प्राप्त करने के पश्चात कोई व्यक्ति अधिक दिन तक शराब पीवे तो उसे प्रत्येक दिन के लिये दंड देना होता था। इसतरह आचार्य मद्यपान पर यथासम्भव नियंत्रण करता है।

सुलफा, चाय, अफीम आदि का उस समय उपभोग होता हुआ मामूम नहीं होता।

जुआ—ज्ञात होता है कि जुआ खेलने की रीति बहुत पुरानी है। इससमय सभी देशों में, भिन्न भिन्न रूप में, जुए का चलन है। यद्यपि सरकार जुए के कुछ भेदों पर नियंत्रण करती है, और खिलाड़ियों को दंड देती है, तथापि अधिकारियों को लोभ या धोखा कहां नहीं दिया जाता। फिर घुड़दौड़ या लाटरी आदि जुए के नये स्वरूप सरकारी अनुमति से ही प्रचलित होते हैं।

अस्तु, अर्थशास्त्र से मालूम होता है कि उससमय यहां कौड़ियों और पासों से जुआ खेला जाता था। पशु (मेंढा आदि) और पक्षियों (मुर्गा, तीतर आदि) को लड़ा कर भी जुआ होता था। आचार्य कौटल्य ने इसे नियंत्रित करने के लिये कई नियम बनाये। वह लिखता है कि द्यूताध्यक्ष किसी एक नियत स्थान पर जुआ खेलने का प्रबन्ध करे। निश्चित स्थान को छोड़कर अन्य किसीजगह जुआ खेलनेवाले को बारह पण दंड दिया जाय। नियत स्थान पर जुआ खेलने का प्रबन्ध इसलिये किया जाता है कि जिससे लुक छिप कर, जनता को धोखा देकर, ठगी से जीविका चलानेवालों का पता लग जाय। यदि कोई कपट पूर्वक जुआ खेले तो उसे दंड दिया जाय और उसके जीते हुये धन को छीन लिया जाय।

वेश्यागमन—यद्यपि उस समय भी कुछ स्त्रियां वेश्या वृत्ति करती थीं, और वे 'रूपा जीवा' (अपना रूप बेच कर आजीविका चलाने वाली) कही जाती थीं, आचार्य के कठोर

प्रतिबन्धों के कारण समाज में इस पर बहुत नियंत्रण रहता था, और यह बहुत शोभित अवस्था में था। कौटल्य स्त्री पुरुषों के अनुचित सम्बन्धों को बहुत दंडनीय घोषित करता है। वह निम्न श्रेणी की दासियों तक से, उनकी इच्छा से भी विषय करने वाले मनुष्यों को भी दंडनीय ठहराता है। इसप्रकार धन सम्पन्न स्वामी भी व्यभिचार नहीं फैला सकते थे।

मनोरंजन; खेल तमाशे आदि—मनुष्य हरसमय किसी उत्पादक कार्य में नहीं लगे रह सकते। जैसे यंत्रों को तेल दिये जाने की आवश्यकता होती है, वैसे ही मनुष्यों को भी समय समय पर मनोरंजन करने की जरूरत पड़ती है। इससे उनका थकान दूर होता है और कार्य करने की शक्ति बढ़ती है। हां अन्य बातों की तरह मनोरंजन मर्यादा के अन्दर ही होना ठीक है। उसकी अति होने से वह लाभदायक न होकर हानिकर ही होता है। अस्तु, सम्राट चन्द्रगुप्त के समय में लोगों को मनोरंजन के विविध साधन प्राप्त थे। कईप्रकार के आदमी ऐसे थे, जिनका पेशा ही दूसरों का दिल बहलाना था। उदाहरणार्थ नट, नाचनेवाले, गानेवाले, बाजा बजानेवाले, अपनी वाणी द्वारा (या तरह तरह की वाणी बोलकर) आजीविका कमाने वाले, मदारी आदि। इनके अतिरिक्त लोगों को दिल बहलाव के 'आराम' अर्थात् बाग बगीचे आदि थे। कौटल्य ने लिखा है कि इन्हें बनानेवालों को राजा भूमि आदि की सहायता दे। उसने चिड़ियाघरों और शिकारगाहों (शिकार

खेलने के जंगलों) की भी व्यवस्था की है। परन्तु इसके साथ ही वह यह ध्यान रखता है कि लोग ऐसे मनोरंजन में न लगें कि उनके अन्य कार्यों में हानि हो। इसलिये वह आदेश करता है कि जनपद में सर्वसाधारण के विनोद के स्थान या 'शाला' (नाटक गृह आदि) न होनी चाहिये जिससे कि नट, नर्तक आदि वहां अपने खेल दिखा कर कृषि आदि कार्यों में विघ्न उपस्थित कर सकें।

विदेशी वस्तुएं—इनके उपभोग के नियंत्रण के सम्बन्ध में हम कौटल्य के विचार विदेशी व्यापार शीर्षक परिच्छेद में बता आये हैं। वह बाहर से केवल उन्हीं वस्तुओं के मंगाये जाने के पक्ष में है जो यहां तैयार न हो सकती हों और जिनके उपभोग की अत्यन्त आवश्यकता हो। आजकल अनेक कृत्रिम आवश्यकताओं की वस्तुएं विदेशों से आती हैं और उनके फल स्वरूप बहुत सा द्रव्य बाहर भेजना पड़ता है कौटल्य ऐसी बातों के लिये कदापि अनुमति नहीं देता।

दान धर्म—भारतीय जनता में दान धर्म की प्रवृत्ति सदा से रही है। कौटल्य के समय में यहां विविध सम्प्रदायों के अनेक मठों, मंदिरों, जलाशयों और धर्मशालाओं, आदि का अस्तित्व था। ऐसे स्थान राज्य की ओर से भी बनाये जाते थे और प्रजा भी दया धर्म या यश की कामना से इनमें योग देती थी। कौटल्य लिखता है कि "अपराजिता (दुर्गा), विष्णु, जयन्त, इन्द्र, इन

देवताओं के कोष्ठ (मंदिर) तथा शिव, वैश्रवण (वरुण), अश्विनीकुमार, लक्ष्मी के गृह बनाये जांय। इनमें अपने २ विचार या उस २ देश के अनुसार भिन्न भिन्न देवताओं की स्थापना की जाय।" इस के अतिरिक्त लोग भिन्न भिन्न दिशाओं के देवताओं तथा नगर-रक्षक देवताओं की उपासना किया करते थे। अनेक देवताओं की सोने चांदी की मूर्तियाँ बनायी जाती थीं इससे इस मद्द के खर्च का कुछ अनुमान किया जा सकता है।

लोकमत की अवहेलना करके कौटल्य ऐसे खर्च को बन्द करने का आदेश नहीं करता तथापि वह इसका राज्य के लिये उपभोग करता हुआ तो मालूम ही होता है। वह लिखता है कि किसी पाखंडी या समूह की सम्पत्ति को जिसमें से श्रोत्रियों को न मिलता हो या उन मनुष्यों की सम्पत्ति को जो मर गये हैं अथवा जिनके घर जल गये हैं सूचित कर राजा के आदमी जप्त करलें। देवताध्यक्ष दुर्ग और राष्ट्र के देवताओं (देव मंदिरों) के आय धन को यथोचित रूप से एक स्थान पर रखे और फिर राज-कोष में जमा कर दिया करे।

उनदिनों लोगों का मंत्र तंत्रों पर भी बहुत विश्वास था। लोग समझते थे कि भिन्न भिन्न प्रकार की मंत्र तंत्र सिद्धि से भिन्न भिन्न कार्यों में सफलता हो जाती है। कौटल्य ने इसका खंडन नहीं किया है। मालूम होता है देशकाल के प्रवाह से उसने लाभ उठाने का प्रयत्न किया है। उसने शत्रुओं पर विजय पाने के लिए ऐसे ढोंगी गुप्तचरों की व्यवस्था बतलायी है जो

ऐसी युक्तियों का प्रयोग करें।

मालूम होता है, उससमय देश में वानप्रस्थी और सन्यासियों की खासी संख्या थी, और ये लोग कोई सार्वजनिक सेवा न करते हुए भी सर्वसाधारण गृहस्थों की सम्पत्ति पर ही निर्वाह करते थे। कौटल्य इस प्रथा को बन्द नहीं कर सकता था; तथापि, जैसा कि हमने अन्यत्र कहा है, उसने इसपर यथेष्ट नियंत्रण किया है।

मेले जलसे आदि—चन्द्रगुप्त काल में, समय समय पर राज्य तथा प्रजा की ओर से विशेषकर दैवी आपत्तियों के निवारणार्थ धार्मिक मेले और जलूस निकाले जाते थे। यद्यपि कालान्तर में अशोक ने इन्हें अपव्ययी समझ कर इनके प्रतिबन्ध के लिये आज्ञायें निकालीं, तथापि कौटल्य ने इनके विरोध में कोई विशेष नियम नहीं लिखा। इससे अनुमान होता है कि या तो चन्द्रगुप्त के समय में इनमें अधिक व्यय न होता होगा, या राज्य ही प्रजा को प्रसन्न रखने तथा पिछली राज्य-क्रान्ति भुलाने के उद्देश्य से इन्हें जारी रखना उचित समझता होगा।

राजकीय सम्मान की प्राप्ति के लिये कौटल्य लोगों को खर्च करने की अनुमति देता है। उसका उद्देश्य इसप्रकार राज-कोष की वृद्धि का एक विशेष साधन प्रस्तुत करना था।

मुकद्दमेबाजी—आजकल उन्नत देशों में बहुत से आदमी मुकद्दमेबाजी में अपार द्रव्य खर्च करते हैं। यद्यपि धनवान

आदमी इस खर्च को सुविधा-पूर्वक सहन कर लेते हैं, तथापि वह अपव्यय अथवा दुरुपभोग तो है ही। कुछ वर्षों से भारत-वासी भी इस मद में बहुत खर्च करनेलगे हैं, और अधिकतर आदमी निर्धन होने के कारण इससे बहुत कष्ट पाते हैं। कौटल्य के समय में ऐसा न था। मेगस्थनीज के लेख का एक उद्धरण इस विषय में साक्षी रूप है। वह तत्कालीन भारतीयों के सम्बन्ध में कहता है, 'उनके कानून और व्यवहार की सरलता इस बात से अच्छी तरह प्रमाणित होजाती है कि वे न्यायालय में बहुत कम जाते हैं। उनमें गिरवी और धरोहर के मुकद्दमे नहीं होते। न वे मोहर और गवाही की जरूरत समझते हैं। वे एक दूसरे के पास धरोहर रख कर आपस में विश्वास करते हैं। ये बातें सूचित करती हैं कि उनके भाव उदार और उत्कृष्ट हैं।'

अफसोस! अब ये बातें हवा होगयीं। अस्तु, कौटल्य ने मुकद्दमेबाजी बढ़ने नहीं दी, वरन् झूठे साक्षियों के लिये कठोर दंड की व्यवस्था करके उसने इसे नियंत्रित किया है। उसने शिक्षा की भांति न्याय कार्य को भी निश्शुल्क ही रखा है। बहुत से अभियोग पंचायतों द्वारा ही तय होजाते थे। निदान आचार्य ने इस विषय के दुरुपभोग को यथासम्भव कम किया है।

—:o:—

अट्ठारहवां परिच्छेद

भूकर

हम पहले कह चुके हैं कि धनोत्पत्ति में भूमि, श्रम, पूंजी, और व्यवस्था—इन चार साधनों का उपयोग होता है। अतः यह आवश्यक ही है कि जो धन उपन्न हो, उसमें से प्रत्येक साधन को उसका प्रतिफल दिया जाय। इस क्रिया को आधुनिक अर्थशास्त्र में धानदिगण कहा जाता है। इस परिच्छेद में कौटल्य के इस विषय सम्बन्धी विचार दिये जांयगे। पहले भू-स्वामी को, उसकी भूमि के किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा उपयोग किये जाने की दशा में, मिलने वाले प्रतिफल, अर्थात् लगान सम्बन्धी विचारों पर प्रकाश डाला जाता है।

प्राचीन काल में भू-स्वामित्व--लगान भूमि के स्वामित्व पर निर्भर है, अतः यह जान लेना आवश्यक है कि कौटल्य से पूर्व यहां भूमि-स्वामित्व सम्बन्धी विचार क्या था, और कौटल्य के समय में उसमें क्या परिवर्तन हुआ।

कौटल्य के पहले के तथा स्वयं कौटिल्य के समय के भूमि स्वामित्व सम्बन्धी विचार जानने के लिये, यह स्मरण रखना आवश्यक है कि स्वाधीन देश में भूमि पर प्रजा के स्थान पर राज्य

का अधिकार होजाने से वैसा अन्तर कदापि नहीं होता, जैसा पराधीन देश में होता है। *

अस्तु, अति प्राचीन काल में यहां जमीन सामान्यतः राजा की सम्पत्ति नहीं मानी जाती थी, वह सबकी सम्मिलित सम्पत्ति होती थी। जो आदमी जिस भूमि को परिश्रम करके साफ और उपजाऊ बनाता उस पर उसी का अधिकार होता था। इसप्रकार कृषक ही भूमि के स्वामी माने जाते थे। हां, सरकारी सहायता या रक्षा के उपलक्ष्य में, फसल तैयार होने पर उसकी उपज का कुछ अंश राजा को देने की रीति थी। किन्तु इससे भूमि पर अधिकार राजा का नहीं होता था।

कौटल्य और भू स्वामित्व—स्थानाभाव से हम इस सम्बन्ध में प्रमाण-स्वरूप महाभारत या मनुस्मृति आदि के उद्धरण नहीं दे सकते और कौटल्य के अर्थशास्त्र का ही एक उद्धरण देकर संतोष करते हैं। आचार्य ने लिखा है कि 'पहले

---

* जब 'राज्य' शब्द 'प्रजा' का पर्यायवाची हो, तो यह कहने में कोई हर्ज नहीं है कि देश की सब भूमि राज्य की है। परन्तु जिस दशा में 'राज्य' (State) कहने से परदेशी लोगों का एक ऐसा छोटा सा समूह समझा जाय जो भूमिकर की आमदनी में से लगभग एक तृतीयांश तो अपने नौकरों ही के वेतन में खर्च कर देते हैं, जिनका न तो यहां पर स्थायी घर है, और न जिनको देश के हानि लाभ से कुछ काम है, तो देश की भूमि को राज्य की कहना कदापि उपयुक्त नहीं होसकता।

—महाभारत मीमांसा

मात्स्य न्याय प्रचलित था। (जैसे बड़ी मछली छोटी को खा जाती है, ऐसे ही बलवान निर्बलों के सत्व अपहरण करते थे), इससे तंग आकर जनता ने वैवस्वत मनु को राजा बनाया। धान्य का छठा हिस्सा तथा व्यापार की आमदनी का दसवां हिस्सा सुवर्ण या नकदी में राजा के लिये नियत किया गया। इस भृत्ति (पोषण या वेतन) को पाते हुये राजाओं ने प्रजा के योग क्षेम का भाग अपने ऊपर लिया। इसप्रकार राजा प्रयुक्त किये गये दंड और करों से प्रजा की बुराइयों को नष्ट करते हैं इसीलिये जंगल में रहनेवाले (ऋषि मुनि जन) भी अपने बीने हुये नाज का छठा हिस्सा राजा को दे देते हैं, है कि यह उस राजा का हिस्सा है, जो हमारी रक्षा करता है। इससे स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में राजा को दिया जानेवाला धान्य का भाग उसके रक्षा करने के कार्य का वेतन था, वह उसके भू-स्वामी होने के आधार पर नहीं मिलता था, और राज्य वास्तव में भूमि का स्वामी नहीं माना जाता था।

मालूम होता है कि कौटल्य के समय में इस पद्धति में कुछ परिवर्तन होना आरम्भ होगया था। अर्थशास्त्र से मालूम होता है कि उससमय कुछ भूमि पर राजा की ओर से 'सीताध्यक्ष' नामक अधिकारी दासों, कार्य करके दंड को भुगताने वाले अपराधियों, अथवा वेतन भोगी श्रमजीवियों द्वारा खेती करता था। इस भूमि पर राज्य का स्वामित्व होता था। इससे होनेवाली आय 'सीता' कहलाती थी। कुछ भूमि गांववालों को इस

विचार से दी जाती थी कि वे राज्य को निर्धारित संख्या में सैनिक अथवा श्रमजीवी दें। शेष भूमि खेती करनेवालों को बिना लगान या लगान पर दी जाती थी। इस भूमि पर उनका अधिकार भिन्न भिन्न परिमाण में होता था इस भूमि से राज्य को जो आय होती थी, उसे 'भाग' कहा गया है। 'सीता' और 'भाग' आय की इन दो भागों से यह स्पष्ट है कि कौटल्य के समय में भी सब भूमि राज्य की मिलकीयत न थी ❀।

काश्तकारों के भेद

१--ब्रह्मदेय काश्तकार--कौटल्य ने जंगलों को काटकर नये नगर बसाने के प्रसंग में ऋत्विक, आचार्य, पुरोहित और श्रोत्रियों को बिना लगान भूमि देने का विधान किया है। ❀ इस प्रकार दी हुई भूमि ब्रह्मदेय कहलाती थी, और ये काश्तकार ब्रह्मदेय काश्तकार कहे जाते थे।

आचार्य का कथन है कि इस जमीन को राज्य वापिस न ले। इसे ऋत्विक आदि की संतान निरंतर भोगने की अधिकारी हो। इनसे किसी प्रकार का भाग या राज-कर नहीं लिया जाय ये काश्तकार आवश्यकता होने पर अपनी भूमि अन्य ब्रह्मदेय

---

* 'मौर्य साम्राज्य का इतिहास' के आधार पर।

* श्री जगन् मोहन जी वर्मा का मत है कि राजा उसी भूमि को औरों को दाय में दे सकता था, जो उसकी निज अधिकृत हो। ('माधुरी' वर्ष २, खंड १, संख्या ४)

काश्तकारों के यहां ही गिरवी रखकर ऋण ले सकते हैं। ये उसे बेच भी ऐसे ही काश्तकारों को सकते हैं। ये अन्य स्थानों में रहते हुए भी अपनी सम्पत्ति के अधिकारी हैं। (सम्भव है ये अन्य पुरुषों या शिकमी काश्तकारों द्वारा खेती करा सकते हों)

२--कर न देने वाले अन्य काश्तकार--कौटल्य ने कर न देने वाले अन्य काश्तकार ऐसे बतलाये हैं, जिनके भोग अधिकार परिमित होते थे। वह लिखता है कि अध्यक्ष [भिन्न भिन्न कार्यों का निरीक्षण करने वाले प्रधान अधिकारी] संख्या-पक (गणना करने वाले अर्थात् सरकारी दफ़्तरों में क्लर्क आदि का काम करने वाले), गोप (दस गांवों के अधिकारी) स्थानिक (नगर का अधिकारी पुरुष), अनीकस्थ [हाथियों को शिक्षा देने वाले], चिकित्सक, अश्व दमक [घोड़ों को सिखाने वाले] और जंघाकारिक [दूर दूर के स्थानों में जाने आने से अपनी आजीविका प्राप्त करने वाले, हरकारे आदि] के लिये भी राजा भूमि प्रदान करे। परन्तु इन लोगों को अपनी भूमि बेचने का तथा गिरवी रखने का अधिकार न हो, ये उसका केवल भोग कर सकते हैं।

उपर्युक्त दोनों प्रकार के काश्तकार माफी लगानवाले होते थे।

३--करद काश्तकार--लगान देनेवाले किसानों के संबन्ध में कौटल्य लिखता है कि जिन्हें खेती के लिये उपयोगी ठीक तैयार की हुई भूमि दी जाय, वह जिसके नाम से दी जाय

उसके ही जीवन काल तक उसके पास रह सकती है तदनंतर राजा को अधिकार है कि वह उस जमीन को उस पुरुष के पुत्रादि को देवे अथवा अन्य किसी को।

लगान देनेवाले जिन किसानों को बंजर भूमि दी गई है, और उन्होंने अपने परिश्रम से उसे खेती के योग्य बनाया है, राजा को चाहिये कि उन किसानों से उस ज़मीन को कभी न ले। ऐसी जमीन पर किसानों का पूर्ण अधिकार रहे।

खेती न की जाने की दशा में राज्य की व्यवस्था—कौटल्य को इस बात का बड़ा ध्यान था कि कृषि योग्य भूमि से खेती अवश्य की जाय, वह पड़ती न रहे। आचार्य लिखता है कि यदि कोई किसान जमीन में खेती नहीं करता और उसे वैसे ही पड़ी रहने देता है तो राजा को चाहिये कि उससे वह जमीन छीन कर और किसी खेती करनेवाले किसान को दे देवे, अथवा ऐसे किसान के न मिलने पर उस जमीन में गांव के अधिकारी पुरुष या व्यापारी लोग खेती करें।

ज़मींदारी--अर्थशास्त्र में ऐसा कोई शब्द नहीं आता जिसका अर्थ ज़मींदार किया जा सके। ब्रह्मारण्य (तपस्वियों के लिये छोड़े हुए जंगल) सोमारण्य (यज्ञ के लिये छोड़े हुए जंगल) देव स्थान तथा पुण्य स्थानों की भूमि और चरागाहों की भूमि को छोड़ कर शेष ऐसी भूमि को जिसमें किसी की खेती न होती हो, काश्तकार नौ-तोड़ करके खेती के लिये ले सकते थे।

लगान की मात्रा, जिन्स में देने से सुविधायें-- कौटल्य ने लगान का परिमाण, साधारणतया उपज का छठा हिस्सा निर्धारित किया है, विशेष दशाओं में यह मात्रा पंचमांश अथवा चतुर्थांश, तथा राज्य के अर्थ संकट ग्रस्त होने पर तृतीयांश तक करने का भी उसने विधान किया है।

प्राचीनकाल में लगान उपज के अनुपात से तो चुकाया ही जाता था, इसके अतिरिक्त वह प्रायः जिन्स में ही दिया जाता था, नकदी में नहीं। कौटल्य ने भी इसी का उल्लेख अथवा अनुमोदन किया है। इससे प्रजा को कईप्रकार की सुविधायें होती हैं। उपज के न्यूनाधिक्य से होनेवाले हानि-लाभ में राज्य भी भागीदार होता है, इसप्रकार फसल खराब होने की दशा में काश्तकार पर लगान का व्यर्थ भार नहीं पड़ता। राज्य को फसल की रक्षा करने तथा उपज बढ़ाने की ओर यथेष्ट ध्यान देना होता है, वह सिंचाई आदि का अच्छा प्रबन्ध करता है, और किसानों को समय समय पर उचित सहायता या परामर्श आदि देने की व्यवस्था करता है। राज्य का और किसानों का दोनों का हित या स्वार्थ समान होने से दोनों का अधिक सहयोग होता है। उनमें वृथा संघर्ष नहीं होता, प्रजा सम्पन्न रहती है, राजकीय भाग चुकाने के लिये, उसे अपने हल बैल आदि बेचने नहीं पड़ते।

—:०—

उन्नीसवां परिच्छेद

वेतन

श्रमजीवियों को अपने श्रम के बदले जो प्रतिफल मिलता है, उसे मजदूरी या वेतन कहते हैं। यद्यपि सर्वसाधारण की भाषा में छोटे दर्जे के श्रमियों की आय को मजदूरी और प्रतिष्ठित श्रमियों की आय को वेतन कहा जाता है, किन्तु आर्थिक परिभाषा के विचार से इनमें कोई भेद नहीं माना जाता।

नकद और असल वेतन—कौटल्य के वेतन सम्बन्धी विचारों का ज्ञान प्राप्त करने के लिये पहले यह जानलेना चाहिये कि आजकल वेतन प्रायः नकदी अर्थात् रुपये पैसे में दिया जाता है। इसके विपरीत, बहुत प्राचीनकाल में श्रमियों को उनके श्रम के बदले अन्न वस्त्र आदि ऐसी चीजें दी जाती थीं, जिनकी उन्हें जीवन निर्वाह के लिये आवश्यकता होती थी, जिनका वे उपभोग करते थे। इसप्रकार की चीजें देना असल मजदूरी देना कहा जाता है। कौटल्य ने दोनों प्रकार के वेतन की व्यवस्था की है। वह साधारणतया प्रत्येक ऐसे श्रमी के लिये जो एक ही व्यक्ति या संस्था का कार्य करे, कुछ नकद वेतन निश्चित करता है तो साथ ही भोजनादि (भक्त या भत्ता) भी ठहराता है। इसप्रकार श्रमजीवी अपने खाने पीने की आवश्य-

कताओं से निश्चिन्त रहता है, और नकद वेतन से अपनी अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है *

वेतन की दर—आचार्य ने भिन्न भिन्न श्रमजीवियों के वेतन की दर विस्तार पूर्वक लिखी है। कुछ मुख्य मुख्य बातें ये हैं:—खेती की रखवाली करनेवाले, ग्वाले दास, तथा अन्य काम करनेवाले नौकरों के लिये प्रत्येक पुरुष के परिश्रम के अनुसार ही भोजन आदि का प्रबन्ध किया जाय। इसके अतिरिक्त इनको प्रति मास सवा पण नियत वेतन दिया जाय। इसीप्रकार अन्य कारीगरों के लिये भी उनके परिश्रम के अनुसार ही भोजन और वेतन दिया जाय।

मोटे कपड़े की धुलाई एक माषक से दो माषक तक तथा रंगीन कपड़ों की इससे दुगनी होनी चाहिये।

सुनार को एक धरण (सोलह माशे) चांदी की वस्तु बनाने पर एक माषक वेतन दिया जाय, सोने की चीज की बन-

---

* आजकल विशेषतया कल कारखानों के श्रमजीवी नकद वेतन पाते हैं, उससे चाहे वे भोजन वस्त्रादि की आवश्यकता की पूर्ति करें, अथवा उसे पान 'बीड़ी' सिग्रेट, शराब या अन्य शौकीनी और विलासिता की चीजों के खरीदने में खर्च कर डालें। पुनः आधुनिककाल में बहुधा व्यवस्थापक तथा वेतन देनेवाले इस बात का विचार नहीं करते कि श्रमजीवियों को जो नकद वेतन दिया जारहा है उससे उनका भरण पोषण यथेष्ट रूप में हो भी सकता है या नहीं।

बाई के लिए उतने सोने का आठवां हिस्सा वेतन दिया जाय। विशेष बढ़िया काम करने पर दूना वेतन दिया जाय।

तांबा, सीसा, कांसा, लोहा, पीतल की चीज की बनवाई धातु के मोल का पांचवां हिस्सा दिया जाय।

कुशल कारीगरों को प्रतिवर्ष ५०० से २००० पण तक और गणकाओं को वार्षिक ५०० से २००० पण तक दिया जाय।

स्थायी या अस्थायी राजकर्मचारियों को उनकी विद्या और कार्य की न्यूनाधिकता के अनुसार उन्हें न्यून या अधिक वेतन तथा भत्ता दिया जाय। साठ पण के पीछे एक आढ़क (चार सेर) के हिसाब से अन्न दिया जाय।

चित्रकार, पादात (गदका, बनैट, तलवार, आदि खेलने में चतुर), हिसाब करने वाले तथा लेखक आदि को ५०० पण वार्षिक दिया जाय।

कुशीलव (नट) आदि को २५० पण, और जो उनमें बढ़िया बाजे आदि भी बनाना जानते हों, उन्हें दुगना अर्थात् ५०० पण दिया जाय। अत्यन्त साधारण कारीगरों को १२० पण दिया जाय। पशु तथा मनुष्यों के परिचारक, गौ आदि की रक्षा करने वाले और बेगारियों को ६० पण वार्षिक तक दिया जाय।

गुप्तचरों को ५०० से १००० पण तक दिया जाय। गांव के नौकर (धोबी नाई आदि) और मुखिया आदि को ५०० पण दिया जाय।

वेतन सम्बन्धी कुछ नियम—भारतवर्ष में श्रमजीवी अपने काम और वेतन की शर्तें ठहराने में स्वतंत्र थे। जब कभी कोई ठहराव नहीं होता था तो उन्हें प्रचलित नियम के अनुसार वेतन दिया जाता था। आचार्य कौटल्य के वेतन सम्बन्धी कुछ नियम इसप्रकार हैं:—

वेतन लेकर जो नौकर काम न करे, उसे १२ पण दंड दिया जाय, यदि बिना ही कारण काम न करे तो उसे रोक कर रखा जाय। कार्य की निकृष्टता के कारण, अथवा बीमारी में तथा आकस्मिक आपत्ति में ग्रस्त होने के कारण कार्य करने में असमर्थ हुआ नौकर छुट्टी ले सकता है अथवा अपने कार्य को दूसरे से भी करा सकता है। यदि मालिक थोड़ा सा काम करावे फिर न करावे तो वह नौकर का किया हुआ समझा जाय।

बढ़ई, लुहार, दर्जी, सुनार आदि संघ बना कर भी काम करते थे। आचार्य ने लिखा है कि संघ से इकट्ठी नौकरी पाने वाले, अथवा आपस में मिलकर ठेके आदि के द्वारा काम करने वाले पहले से तय किये हुए के अनुसार या बराबर बराबर आपस में वेतन बांट लेवें। अर्थात् इन लोगों का वेतन यदि पहले से कुछ तय नहीं हुआ है तो सबको बराबर बराबर मिलेगा। किसान फसल के आरम्भ से अन्त तक के साथी को उसके किये हुए काम के अनुसार हिस्सा दे। काम के होते रहते हुए ही यदि कोई तन्दुरुस्त व्यक्ति काम छोड़ कर चलाजाय तो उसे बारह पण दंड किया जाय।

श्रमियों की स्थिति—यह हिसाब लगाना तो अत्यन्त कठिन है कि उससमय की आर्थिक स्थिति को देखते हुये किस किस प्रकार के श्रमियों का वेतन कम या ज्यादह था। हां यह कहा जा सकता है:—

१—देश में बेकारी न थी। भाफ या बिजली आदि से चलनेवाले आधुनिक ढंग के बड़े बड़े कल कारखाने न होने से श्रमियों को अपने श्रम तथा कार्य कुशलता का उपभोग करने का यथेष्ट अवसर प्राप्त था।

२—श्रमियों की शिक्षा का, राज्य के भिन्न भिन्न अध्यक्षों द्वारा एवं विविध संघों की ओर से यथेष्ट प्रबन्ध था।

३—मज़दूर अपनी सफाई और तन्दुरुस्ती के साधनों या मकानों के लिये स्वामियों के आश्रित न रहते थे। वे अपना स्वतंत्र प्रबन्ध करते थे, और राज्य की ओर से उनके हितका समुचित ध्यान रखा जाता था।

४—राज्य श्रमजीवियों एवं स्वामियों दोनों के अधिकार के लिये आवश्यकतानुसार हस्तक्षेप करता था।

५—श्रमियों को अरामतलबी, विलासिता और फजूल खर्ची से बचाया जाता था।

इसप्रकार यह स्पष्ट है कि आचार्य कौटल्य ने समाज के इस प्रधान वर्ग के हित की कितनी सुन्दर व्यवस्था की थी।

बीसवां परिच्छेद

सूद

पूंजीवालों को, उनकी पूंजी के किसी दूसरे व्यक्ति या संस्था द्वारा उपयोग किये जाने की दशा में, मिलनेवाले प्रतिफल को सूद कहते हैं। धन को व्यर्थ अपने पास न पड़े रहने देकर उसे दूसरों को सूद पर उधार देना जहाँ धनपति के कौशल और साहस को प्रकट करता है, वहां अपने धनके अभाव में दूसरे के धन से धनोपार्जन करना सूद पर रुपया लेनेवाले की भी क्षमता सिद्ध करता है। कुछ दशाओं में व्यापार के अतिरिक्त अन्य शारीरिक सामाजिक या मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये भी रुपया सूद पर लिया जाता है।

कौटल्य और सूद दर—आचार्य लिखता है कि सौ पण पर एक महीने में सवा पण (अर्थात् पन्द्रह फी सदी सालाना) ब्याज लेना ठीक है। व्यापारी लोगों से पांच फी सदी माहवार, जंगल से दस फी सदी माहवार, और समुद्र में आने-जाने वाले या वहां व्यापार करनेवालों से बीस फी सैकड़ा माहवार ब्याज लिया जाना चाहिये। इससे अधिक सूद लेने वालों को दंड दिया जाय।

इससे स्पष्ट है कि ज्यों ज्यों किसी कार्य में जोखम अधिक हो, कौटल्य उसके लिये सूद की दर अधिक ठहराता है, और यह स्वाभाविक भी है। तथापि सूद की उपर्युक्त दर, आजकल की दृष्टि से बहुत अधिक है, इसमें सन्देह नहीं।

दर ऊंची होने के सम्बन्ध में विचार—कौटल्य तथा अन्य नियम निर्माताओं द्वारा निर्धारित सूद की दर के ऊंचे होने से कुछ, विशेषतया विदेशी लेखक यह अनुमान करते हैं कि भारतवर्ष प्राचीनकाल में बहुत दरिद्र था और इसलिये यहां सूद पर रुपया देने की प्रवृत्ति न थी। परन्तु इस सम्बन्ध में निम्न लिखित बातें विचारणीय हैं:—

१—प्राचीनकाल में उन लोगों का जीवन और धन रक्षित नहीं समझा जाता था जिन्हें व्यापार के लिये देश विदेश अथवा जंगलों में घूमना पड़ता था।

२—उससमय अधिकतर कार्य छोटी पूंजी से अथवा कई व्यक्तियों की सम्मिलित बड़ी पूंजी से चल जाता था। जिसके पास साधारण पूंजी भी नहीं होती थी और जो सम्मिलित पूंजी की व्यवस्था नहीं कर सकते थे, उनकी साख कम समझी जाती थी।

३—उस समय किसी को उधार देने की अपेक्षा दान के रूप में रुपये अन्न या वस्त्र आदि की सहायता करना अच्छा समझा जाता था।

४—कई सामाजिक प्रथाओं* के कारण गृहस्थों को विवाह शादी आदि अवसर पर अपने सम्बन्धियों और इष्ट मित्रों से सहायता अथवा कालान्तर में वापिस किये जाने वाले धन के रूप में यथेष्ट रकम मिल जाती थी।

५—भारतीय नीतिकारों ने ऋण लेने की निन्दा की है, ऋण-कर्ता पिता को सन्तान का शत्रु कहा है। इससे सर्व साधारण में ऋण लेने की प्रवृत्ति कम रही है। उनका जीवन संतोषी रहा है। 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्' को यहां सद् गृहस्थों ने मान्य नहीं किया। प्रायः अपनी आय में ही अपना निर्वाह करने की प्रवृत्ति रही।

ऋण-ग्रस्तों की रक्षा—आचार्य ने ऋण-ग्रस्तों की रक्षा का यथेष्ट ध्यान रखा है। इस सम्बन्ध में उसके मुख्य मुख्य नियम दिये जाते हैं :—

अनेक व्यक्तियों के ऋणी अधमर्ण पर कई उत्तमर्ण (साहूकार) अपने अपने ऋण का एक ही साथ अभियोग नहीं चला सकते। [यदि अधमर्ण कहीं विदेश को जा रहा हो तो उस पर एक साथ मुकद्दमा चल सकता है।]

कार्य करने के समय में किसान और राजकर्मचारियों को ऋण के लिये गिरफ्तार नहीं किया जा सकता।

---

* इनके अवशिष्ट चिन्ह नौता, भात, दहेज, छूछक आदि इससमय भी प्रचलित हैं।

पति के लिये हुए ऋण के सम्बन्ध में स्त्री पर दबाव नहीं डाला जा सकता, जब कि वह उसको चुकाना मंजूर नहीं करती अर्थात् यदि वह स्वयं देना चाहे तब ही उस से पति के ऋण का रुपया लिया जा सकता है, अन्यथा नहीं। [ग्वाले और इसीप्रकार के अन्य पुरुषों के लिये यह नियम नहीं है, जिन की स्त्रियां उनकी जीविका में सहायक होती हैं।]

बहुत काल तक यज्ञ में घिरे हुए, व्याधिग्रस्त, तथा गुरुकुल में अध्ययन करते हुए, एवं बालक या शक्ति हीन पुरुष पर जो ऋण हो, उस पर व्याज नहीं लगाया जासकता।

व्याज पूरा न होने पर, पहले ही व्याज लेने के लिये जो अधमर्ण को तंग करे, अथवा व्याज को मूलधन में जोड़ कर मूलधन के नाम से ही उतना रुपया मांगे, उसे मांगे हुए धन का चौगुना दंड होना चाहिये।

उधार देनेवालों के सम्बन्ध में विचार—कौटल्य ने इस बात का भी यथेष्ट ध्यान रखा कि यथासम्भव उधार देनेवालों का रुपया विशेषतया जब कि वे बहुत धनी या समर्थ न हों डूबने न पाये। इसलिये जहां वह यह लिखता है कि "यदि कोई उत्तमर्ण (उधार देने वाला) दस वर्ष के भीतर अपना ऋण वसूल नहीं कर लेता तो फिर उसके ऊपर उस का कोई अधिकार नहीं रहता" वहां यह भी कहता है कि "परन्तु यदि वह धन बालक, वृद्ध, बीमार, आपद्ग्रस्त, विदेश में गये हुए, देश

त्यागी, या राजकीय गड़बड़ में पड़े हुए धनियों का हो तो वे दस वर्ष के बाद भी उसे प्राप्त करने के अधिकारी रहते हैं।" इसी-प्रकार आचार्य ने यह भी आदेश किया है कि, मृत अधमर्ण (उधार लेने वाले) के (बालिग़) पुत्र उस के ऋण को चुकावें, अथवा उसकी स्थायी सम्पत्ति को लेनेवाले दायभागी, या साथ साथ काम करने वाले उस के ज़ामिन हिस्सेदार उसको चुकावें।

अर्थशास्त्र में ऋण देने लेने के सम्बन्ध में बहुत से नियम बतलाये गये हैं, उन सबका उल्लेख यहाँ नहीं किया जासकता। यह स्पष्ट है कि उस समय रुपया उधार लेने की प्रथा प्रचलित थी, और कौटल्य ने इसके विवेचन को महत्व पूर्ण समझा है।

इक्कीसवाँ परिच्छेद

मुनाफ़ा

पहले बताया जा चुका है कि उत्पादन सम्बन्धी प्रबन्ध और साहस को अर्थशास्त्र में व्यवस्था कहते हैं। उसका प्रतिफल मुनाफा होता है। मुनाफा या लाभ वह अन्तर है जो किसी वस्तु की कीमत में तथा उसके लिये प्रयुक्त भूमि, श्रम और मूलधन के प्रतिफलों के योग में होता है।

मुनाफे का अनुमान—व्यापार में, विशेषतया विदेश जाकर व्यापार करने में, लाभ का अनुमान करने के लिये आचार्य ने कई बातों की ओर ध्यान दिलाया है। उसने लिखा है कि अपने देश के तथा परदेश के पण्य द्रव्यों के न्यून अधिक तथा समान मूल्य को, और उन के 'पैक' करने (पार्सल या गांठ तैयार करने) के व्यय को अच्छी तरह जान कर शुल्क, वर्तनी-देय (सड़क का महसूल) अतिवाहिकादेय ('वहती' अर्थात एक सीमा से दूसरी सीमा में माल निकलवाने का खर्च) गुल्म देय (रास्ते के रक्षक का देय अंश) तरदेय (नदी आदि पार कराने वाले नाविक का देय अंश) *भक्त (भोजन का व्यय)

---

* कौटिल्य का मत है कि यदि मार्ग में अधिक से अधिक अनुमानित लाभ का चौथायी भाग खर्च करने से काम चल जाय तो स्थल मार्ग से

तथा भाटक [भाड़ा] आदि सब खर्चों को निकाल कर शुद्ध आमदनी देखी जानी चाहिये। उपर्युक्त खर्चों में एकप्रकार से वह रकम शामिल है, जिसके उपलक्ष्य में. चोरी आदि से माल नष्ट होने पर, क्षति पूर्ति हो सकती है और जिसे आजकल की व्यापारिक भाषा में 'बीमा खर्च' कहा जा सकता है।

कौटल्य का उपर्युक्त विवेचन संक्षिप्त होते हुए भी, यह स्पष्ट है कि वह [आचार्य] आवश्यक बातों का उल्लेख करना नहीं भूलता।

लाभ की दर—वर्तमान भौतिकवाद के युग में अधिक से अधिक मुनाफा उठाना व्यवसाय कुशलता का लक्षण समझा जाता है, और इसके लिये समाज या राज्य की ओर से बहुत कम नियंत्रण होता है। कौटल्य को यह बात पसन्द नहीं थी। वह व्यापार का उद्देश्य धनोपार्जन करना नहीं, सार्वजनिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना समझता था। उसके विचार से व्यवसाय द्वारा अपरिमित या अमर्यादित मुनाफा लेना और धनपति होजाना चोरी और डकैती के बराबर था। इसलिये उसने ऐसे व्यवसायियों को चोर न कहे जाने वाले चोर कहा है। आचार्य तैयार वस्तुओं की विक्री से होने वाला लाभ साधारणतः उनकी लागत का पांच प्रति सैकड़ा निश्चित करता है।

विदेशी व्यापार किया जाय। जलमार्ग से व्यापार करना अधिक बचत होने की दशा में ही आचार्य को स्वीकार होगा।

कुछ दशाओं में, विशेषतया विदेशी व्यापार को उत्तेजना देने के लिये वह इसका परिमाण दस प्रति सैकड़ा तक उचित समझता है।

मुनाफे का नियंत्रण—व्यापारी निश्चित मुनाफे से अधिक न लें, इसके लिये कौटल्य कई नियम निर्धारित करता है, उदाहरणवत् उसका आदेश है कि शुल्काध्यक्ष शुल्क अर्थात् चुंगी वसूल करने के लिये पदार्थों के परिमाण और गुण का निरीक्षण करे, और प्रत्येक पदार्थ की कीमत निश्चित होजाय। यह क़ीमत व्यापारी गुप्त न रखे, वह इस की घोषणा करे। इस दशा में वह मनमाना मुनाफा ले ही नही सकता।

—:o:—

बाइसवां परिच्छेद

धन वितरण और समाज

कौटल्य के धन वितरण सम्बन्धी विचारों पर पिछले पृष्ठों में प्रकाश डाला जा चुका है। इस परिच्छेद में हम यह विचार करना चाहते हैं कि उससमय, धन वितरण की दृष्टि से समाज की क्या स्थिति थी, और आचार्य के नियमों का क्या प्रभाव पड़ा था। पहले धन वितरण के महत्व का विचार करलें।

धन वितरण का महत्व; आधुनिक असमान वितरण--धन वितरण का प्रश्न समाज के लिये कितने महत्व का है इस विषय में संक्षेप में यह कहदेना ही पर्याप्त है कि इसके हल होने पर ही समाज का बहुत कुछ सुख-दुख निर्भर होता है। आजकल भिन्न देशों में जो आन्तरिक कलह या अशान्ति का साम्राज्य है उसका एक मुख्य कारण धन वितरण की असमानता है। धनवान देशों में प्रायः थोड़े से आदमी बेहद धनिक हैं, असंख्य जनता तो जीवन निर्वाह के साधारण साधनों से भी वंचित है। कृषि-प्रधान स्थानों में दरिद्र रोग ग्रस्त किसानों और लोभी ज़मींदारों के झगड़े नित्य की घटनायें हैं। औद्योगिक केन्द्रों में मजदूरों और

पूंजीपतियों का संघर्ष अधिकाधिक विकराल रूप धारण करता जाता है। मशीनों ने बेकारी बहुत बढ़ा दी है, उधर कारखानों के मालिक श्रमजीवियों को कम से कम मज़दूरी देकर अधिक से अधिक काम लेना चाहते हैं, वे उनके स्वास्थ्यादि का भी ठीक प्रबन्ध नहीं करते। मजदूर देखते हैं कि जहां हमें प्रतिदिन पांच सात आने या साल में सौ डेढ़ सौ रुपये मिलते हैं, पूंजीपति को इससे सैकड़ों गुना लाभ या बचत रहती है, वह अधिकाधिक धनवान होता जाता है और हम दिन पर दिन अधिक ऋण-ग्रस्त और संकटापन्न होते जाते हैं। वे राज्य का ध्यान इस ओर दिलाने की चेष्टा करते हैं और समुचित व्यवस्था न होने पर, असन्तुष्ट होकर संगठित आन्दोलन तथा व्यापक हड़ताल करते हैं। अथवा कभी कभी ऐसा भी होता है कि पूंजीपति यह समझता है कि मजदूरों पर कार्य करने को बाध्य करने के वास्ते वह कारखाने का 'द्वारावरोध' करता है। ऐसी बातों से, बहुत से देशों की कुल धन-राशी काफी बढ़ी-चढ़ी होते हुए भी सर्वसाधारण की सुख-शान्ति प्रायः दुर्लभ हो रही है। इस परिस्थिति के मुख्य दो कारण हैं, (१) व्यापार की आधार-शिला पूंजीवाद होना, और (२) गृह-शिल्प या गृह उद्योग का क्रमशः नष्ट होजाना, और मशीनरी का बाहुल्य।

प्राचीन व्यवस्था, पूंजीवाद का अभाव--प्राचीन भारत में ऐसा न था। देश धन-धान्य पूर्ण होने पर भी आजकल के धन-सम्पन्न राष्ट्रों को सतानेवाले संकटों से मुक्त था।

इसका एक मुख्य कारण यह था कि उससमय पूंजीवाद का अभाव था बड़ी मात्रा की उत्पत्ति करनेवाले कल-कारखाने नहीं थे। गृह-शिल्प का खूब प्रचार था। कौटल्य के अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि यद्यपि उस समय भी भिन्न भिन्न व्यवसाय-संघों में बहुत से आदमियों के मिलकर काम करने की व्यवस्था थी, परन्तु वहां उनके पास अपने अपने औजार होते थे, सब अपने अपने काम के स्वयं निरीक्षक होते थे। सब अपने अपने काम का प्रतिफल अपनी योग्यता के अनुसार पाते थे, जिसका आधार आजकल की तरह मशीनरी नहीं थी। काम करनेवाले व्यक्ति श्रमजीवी होने के साथ साथ छोटे छोटे पूंजीपति भी होते थे। हां, राज्य के कारखानों में मजदूर माल तैयार करके राज्याधिकारियों के हवाले करते थे, परन्तु उन्हें भी अपने भरण पोषण की चिन्ता नहीं करनी पड़ती थी। उनके भोजनादि का सामान राज्य से मिलता था। आचार्य ने प्रत्येक श्रमजीवी के लिये कुछ नकद वेतन के अतिरिक्त निश्चित परिमाण में 'भक्तान्न' या भत्ते की व्यवस्था की है।

उसने मुनाफे की दर निर्धारित करके व्यापार द्वारा [अधिक मुनाफा प्राप्त करने की दशा में] समाज में होनेवाली धन वितरण की असमानता को भी रोक दिया था।

समानता का भाव--प्राचीनकाल में यदि कोई व्यक्ति औरों की अपेक्षा बहुत अधिक धनवान हुआ भी, तो वह अपना धन समाज के हितार्थ तो खर्च ही करता था, सर्व

साधारण के वास्ते शिक्षा, स्वास्थ्य तथा अन्य सुविधाओं के लिये भी विविध प्रकार के आयोजन करता था। जब धनवानों को अपने व्यक्तिगत स्वार्थ या ऐश्वर्य के लिये धन संचित करने की तृष्णा न हो, जब वे गुरुकुलों में अन्न आदि भिजवावें, तीर्थों में सदा-वर्त्त खोलें, स्थान स्थान पर कुएं अतिथिशाला या धर्मशाला आदि बनवायें, सर्दी की ऋतु में कम्बल और रजाई आदि बंट-वायें, और सार्वजनिक प्रश्नों पर विचार करने के लिये सर्वसाधारण से मिलने जुलने में संकोच न करें, तो किसी को उनसे ईर्षा क्यों हो। यह कहावत कि 'घी गिरा तो चावलों ही में तो गया' उससमय पूर्णतः चरितार्थ होती थी। सर्वसाधारण को संतोष रहता था कि धनवानों के पास गया हुआ धन आखिर हम सब ही के काम आता है।

यद्यपि उपर्युक्त प्रकार की बातें लोगों की स्वेच्छा से ही होती रहती थीं, तत्काल-नियम भी जनता को इस विषय में सावधान रहने की प्रेरणा करते थे। कौटल्य ने 'नागरिक' अर्थात् नगरा-धिकारी के कार्यों के प्रसंग में लिखा है कि 'जो पुरुष अत्यधिक व्यय करने वाला हो, अथवा अहितकर कार्य करनेवाला हो, उसकी सूचना 'गोप' अथवा स्थानिक, अधिकारी को दी जाय।' इससे स्पष्ट है कि अपने स्वार्थ, ऐश्वर्य या भोग विलास आदि में अधिक व्यय करने को कौटल्य अपराध मानता है, और इस प्रकार धन वितरण की असमानता के अनिष्टकारी प्रदर्शन को रोकता है।

प्राचीन संस्कृति और वर्ण व्यवस्था--प्राचीन संस्कृति भी ऐसी थी कि वह धन के असमान वितरण को कष्ट-प्रद नहीं होने देती थी। उससमय धन की विशेष प्रतिष्ठा नहीं थी; प्रतिष्ठा थी, गुणों की। हर एक आदमी रुपये पैसों के पीछे नहीं दौड़ता था, धन के लिए जुआ, सट्टा फाटका, या छल कपट आदि नहीं करता था। इसका एक कारण यहां की प्रचलित वर्ण व्यवस्था थी, जिसका कौटल्य ने भी समर्थन ही किया है। तदनुसार समाज का सर्वोपरि अंग निस्पृह विद्वान (ब्राह्मण) था जो निर्धनता का जीवन बिताते हुए भी राज-दरबार तक में सम्मानित था। यही नहीं, वे अपने परामर्श से राज-कार्य का संचालन कराते थे। ब्राह्मणों से नीचे, दूसरा दर्जा क्षत्रियों का था, ये भी देश-रक्षा के महत्वपूर्ण कार्य में योग देने के कारण आदर मान के अधिकारी होते थे, धन के कारण नहीं।

जिस वैश्य वर्ग का कार्य धनोत्पादन करना था, जो प्रायः धनवान होता था, उसका प्राचीन समाज में प्रथम नहीं, द्वितीय भी नहीं, तीसरा दर्जा था। फिर जब ये अपने उत्पन्न धन का उपयोग सर्वसाधारण के हितार्थ करते रहते थे, तो किसी को इनके धन से डाह होना अस्वाभाविक ही था। शूद्र शारीरिक परिश्रम से अपना निर्वाह किया करते थे, परन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उससमय श्रमजीवियों को आजकल की तरह भोजन वस्त्र का अभाव नहीं रहता था, कौटल्य ने भक्तान्न, की व्यवस्था करके उन्हें इस विषय में निश्चिन्त कर रखा था।

इसप्रकार कौटल्य के समय में, तथा उसके नियमों के अनुसार देश में गृह-शिल्प का काफी प्रचार था, पूँजीवाद का अभाव था, धनवानों की अपने अन्य बन्धुओं के प्रति यथेष्ट सहानुभूति थी, तथा ऐसी संस्कृति और वर्ण व्यवस्था थी जिसमें धनहीन व्यक्ति भी अपने गुणों के कारण यथेष्ट मान प्रतिष्ठा पाते थे। धन का वितरण बहुत कुछ समान था, और जो थोड़ी बहुत असमानता थी, वह लोगों में असन्तोष पैदा करनेवाली या उन्हें कष्ट देनेवाली नहीं होती थी। सर्वसाधारण का जीवन शान्तिमय था। प्रत्येक को शारीरिक, मानसिक वृत्तियों के विकास का यथेष्ट अवसर था। देश आजकल की सर्व-व्यापी बेकारी, दरिद्रता या चिन्ता से मुक्त था। हमारे अर्थशास्त्री फिर इस देश को वैसी आर्थिक स्थिति प्राप्त कराने का प्रयत्न करें।

समाप्त

भारतवर्षीय हिन्दी-अर्थशास्त्र-परिषद

(सन् १९२३ ई० में संस्थापित)

सभापतिः--

श्रीयुत पंडित दयाशंकर दुबे, एम० ए०, एल-एल० बी० अर्थ-शास्त्र अध्यापक, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग।

मंत्रीः--

(१) श्रीयुत जयदेव प्रसादजी गुप्त, एम० ए० बी० काम० एस० एम० कालेज, चंदौसी।

(२) साहित्यरत्न पंडित उदय नारायण जी त्रिपाठी एम० ए० अध्यापक, दारागंज हाई स्कूल, दारागंज, प्रयाग।

इस परिषद का उद्देश्य है जनता में हिन्दी द्वारा अर्थशास्त्र का ज्ञान फैलाना और उसका साहित्य बढ़ाना। कोई भी सज्जन १) प्रवेश शुल्क देकर इस परिषद का सदस्य हो सकता है। जो सज्जन इसे कम से कम १००) की आर्थिक सहायता देते हैं, वे इसके संरक्षक समझे जाते हैं। प्रत्येक सदस्य और संरक्षक को परिषद द्वारा प्रकाशित या संपादित पुस्तकें पौने मूल्य पर दी जाती हैं।

परिषद की संपादन समिति द्वारा सम्पादित होकर निम्न लिखित पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं:—

(१) भारतीय अर्थशास्त्र (दो भाग)।

(२) विदेशी विनिमय।

(३) अर्थशास्त्र शब्दावली।

(४) कौटिल्य के आर्थिक विचार।

इनके अतिरिक्त, निम्न लिखित पुस्तकों का सम्पादन हो रहा है:—

[५] संपत्ति का उपभोग।

[६] भारत की जनता।

[७] राजस्व शास्त्र।

[८] अंक शास्त्र।

हिन्दी में अर्थशास्त्र सम्बन्धी साहित्य की कितनी कमी है, यह किसी साहित्य प्रेमी सज्जन से छिपा नहीं है। देश के उत्थान के लिये इस साहित्य की शीघ्र वृद्धि होना अत्यन्त आवश्यक है। प्रत्येक देश प्रेमी तथा हिन्दी प्रेमी सज्जन से हमारी प्रार्थना है कि वह इस परिषद का संरक्षक या सदस्य होकर हम लोगों को सहायता देने की कृपा करे। जिन महाशयों ने इस विषय पर कोई लेख या पुस्तक लिखी हो, वे उसे सभापति के पास भेजने की कृपा करें। लेख या पुस्तक परिषद द्वारा स्वीकृत होने पर सम्पादन समिति द्वारा बिना मूल्य सम्पादित की जाती है। आर्थिक कठिनाइयों के कारण परिषद अभी तक कोई पुस्तक प्रकाशित नहीं कर पायी है, परन्तु वह प्रत्येक लेख या पुस्तक को सुयोग्य प्रकाशक द्वारा प्रकाशित कराने का पूर्ण प्रयत्न करती है। जो सज्जन अर्थशास्त्र सम्बन्धी किसी भी विषय पर लेख या पुस्तक लिखने में किसी प्रकार की सहायता चाहते हों, वे नीचे लिखे पते से पत्र व्यवहार करें।

दयाशंकर दुबे, एम० ए०

दारागंज, प्रयाग।

करके कोई यात्री जिज्ञ. [illegible] जाय तो वास्तव में धार्मिक ऐतिहासिक, शारीरिक और मानसिक सभी दृष्टियों से उसे बहुत लाभ हो किन्तु यात्रा सम्बन्धी कोई अच्छी पुस्तकें न होने से तीर्थ यात्रियों को तीर्थों में जाकर बहुत कठिनाइयां होती हैं, विशेष कर हिन्दू जाति से इतर व्यक्तियों को जो ऐतिहासिक दृष्टि से या प्रकृति-निरीक्षण, भ्रमण के विचार से जाते हैं। इन्हीं कठिनाइयों को दूर करने और सब प्रकार की सुविधाएं पाने के लिये सब तीर्थों की सरल सस्ती सचित्र पुस्तकें निकाली गई हैं दाम लागतमात्र फिर भी स्थाई ग्राहकों को तीन चौथाई मूल्य में।

इनसे कोई भी यात्री या विद्यार्थी ज्ञान लाभ कर सकता है। अभीतक नीचे लिखी पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। बाकी शीघ्र प्रकाशित होंगी।

१—प्रयाग ≡)॥
२—मथुरा वृन्दावन ≡)॥
३—हरिद्वार =)॥
४—चित्रकूट =)॥
५—अयोध्या =)
६—काशी ≡)॥
७—ओंकारेश्वर =)
८—उज्जैन =)॥
—बदरी नाथ =)
१०—केदार नाथ =)
११—गया ≡)
१२—काञ्ची =)
१३—वैजनाथ धाम ≡)
१४—पुरी ।)
१५—रामेश्वर ।)
१६—द्वारिका ।)

पता—धर्मग्रन्थावली, दारागंज, प्रयाग